मुद्रक

•

भार्गव भूषण प्रेस,
वाराणसी

•

प्रथम आवृत्ति
२,०००

•

मूल्य
एक रुपया मात्र

•

श्री हंसराज बच्छराज नाहटा
सरदारशहर निवासी
द्वारा
जैन विश्व भारती, लाडनूं
को सप्रेम भेंट –

अनुक्रमणिका

लेखक श्री पूर्णचंद्र जैन थे। पर बाद में जब स्थिति यह बन गयी कि 'तरुण ओसवाल' में 'भग्न हृदय' का लेख तो जाना ही चाहिये, तो जब कभी श्री पूर्णचंद्रजी यह लेख नहीं लिख पाते तो मैं लिखा करता था। लगभग हम दोनों ने एक ही शैली अपनायी। जहाँ तक मुझे याद है, कुछ 'भग्न हृदय' की चिट्ठियाँ भाई सिद्धराजजी ने भी लिखी थीं—और एक लेख राबल्देशर के श्री पूनमचंद वैद ने भी। इस प्रकार 'भग्न हृदय' एक नाम से शुरू होकर बहुनाम हो गया—वह वास्तव में, एक विचार, एक शैली, एक क्रांति बन गया !!

सन् १९४७ में स्वराज्य-प्राप्ति के बाद एक दिन जब मैं 'तरुण' के लिये 'भग्न हृदय' का लेख लिखने बैठा तो जैन धर्म और जैन समाज की चर्चा छूट गयी और जो लिखा गया, वह था—'गांधी की कब्र पर खादी के फूल'। वहाँ से 'भग्न हृदय' के लेखों की एक नई परम्परा का प्रारंभ हुआ और उसके बाद मैंने इस नाम से कितने ही लेख 'नया समाज' में लिखे।

इस पुस्तक में जिन लेखों का संकलन किया गया है, वह सन् १९४६ तक प्रकाशित हुए लेख हैं, जिनके विषय मुख्यतः जैन साधु-संस्था के विचार और क्रिया ही हैं। इनके संकलन के प्रकाशन की बात पहले भी दो-तीन बार सामने आयी थी, पर मैं यह मानकर इसे टालता रहा कि 'भग्न हृदय' का कार्य बहुत दूर तक पूरा हो गया है और अब उस पर परिश्रम करना अनावश्यक ही है। मगर राजस्थान धार्मिक क्रांति-सम्मेलन के बाद तो इस साधु-संस्था के विघटन के प्रश्न को तीव्रता से सामने लाने के लिये सभी मित्रों का आग्रह रहा कि इन लेखों का संग्रह छपना ही चाहिए।

इन लेखों की अभिव्यक्ति में व्यंग्य है और व्यंग्य मे जो प्रभविष्णुता होती है, वही इन लेखों की विशेषता है। इन व्यंग्य-लेखों में समाज की हीन दशा के प्रति पीड़ा है, उद्वेग है और वह उद्वेग शैली मे भी है। हर शब्द, हर वाक्य में व्यंग्य का तीखा बाण धर्म और धर्म-संस्था के किसी

'भग्न हृदय'...एक नाम, एक स्फुलिंग, एक क्रान्ति।

यह है सूक्ष्म रूप में 'भग्न हृदय' के लेखों के पीछे रहा हुआ विशद इतिहास। नवम्बर, १९३८ के 'ओसवाल नवयुक' (मासिक) में "साधुत्व" शीर्षक लेख 'भग्न हृदय' के नाम से प्रकाशित हुआ। उसके प्रकाशन को लेकर कलकत्ता और राजस्थान के जैन समाज में ऐसी खलबली पैदा हुई कि ओसवाल नवयुवक समिति, कलकत्ता, जिसकी ओर से उक्त पत्र का प्रकाशन किया जाता था, ने न केवल उक्त लेख के प्रकाशन पर आपत्ति और विरोध प्रकट किया, बल्कि पत्र के संपादक होने के नाते भाई विजयसिंहजी नाहर और मुझसे यह आश्वासन चाहा कि 'भग्न हृदय' या और किसी भी लेखक का वैसा लेख 'ओसवाल नवयुवक' में भविष्य में न छपे। हम इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध स्वीकार करके संपादकत्व का दायित्व लेने को तैयार नहीं थे, इसलिये एक अंक के प्रकाशन के बाद हम दोनों ने त्यागपत्र दे दिया। 'भग्न हृदय' के उक्त लेख में धर्म, मन्दिर और साधु-संस्था के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किया गया था, उसके विषय में तथा हमारे त्यागपत्र देने की परिस्थितियों और कारणों के सम्बन्ध में हमने दिसम्बर, १९३८ के अंक में अपने विचार विस्तारपूर्वक प्रकट किये। वह रात मुझे आज कितनी याद है, जब संध्या ६ बजे से सुबह के ७॥ बजे तक एक आसन पर बैठ कर मैंने वह संपादकीय लेख लिखा था, जो यदि पूरा छपता तो 'ओसवाल नवयुवक' के लगभग ५० पृष्ठ होते। काट-छाँट करने के बाद भी छपे हुए ३२ पृष्ठ तो हो ही गये। उस लेख में मैंने जैन साधु-संस्था के

साधुत्व

श्रावक ! तुम वहाँ क्यों जाते हो ? तुम गृहस्थ रहना चाहते हो या साधु बनना चाहते हो ?

वहाँ, तुम क्यों जाते हो ? जो पाटिये पर श्वेत वस्त्रों में कलुषित हृदय छिपाये बैठे हैं, जो धर्म-शास्त्रों की प्राकृत की गाथाओं और संस्कृत के श्लोकों का, शुद्धाशुद्ध उच्चारण की ओर ध्यान न दे, तोते की भाँति तुम्हारे सामने पाठ-सा दुहरा जाते हैं, जिन्हें वे न स्वयं समझते हैं और न तुम्हें समझा सकते हैं; जो धार्मिक सिद्धान्तों की स्वेच्छापूर्वक निर्मित व्याख्या के आधार पर कुतर्क करते हैं; जो व्यवहार-धर्म को नहीं पहचानते हैं; जो ज्ञानप्राप्ति, धर्मोपदेश-दान और स्व-पर-कल्याण को अपना उद्देश्य बता और संसार से निर्लिप्तता प्रगट कर के भी दलबन्दी के दलदल में फँसे हुए हैं, जो तुमसे भी अधिक कर्तव्य-भ्रष्ट, अज्ञानांधकार में ठोकरें खाने वाले, स्वार्थ-पिपासु, अकर्मण्य, भगवान के नाम पर अवि-चार और अधर्म फैलाने वाले हैं—उनके पास तुम क्यों जाते हो ?

तुम देख सकते हो ? तुम्हारे आँखें है ? तुम्हारी विचार-शक्ति सर्वथा विकृत और कुण्ठित तो नहीं हो गयी है ? तुम देखते नहीं हो—वह राग और द्वेष से परे रहने का तुम्हें उपदेश देनेवाला भण्ड साधुओं का एक दल वैसे ही धर्म के ठेकेदारों और तुम्हें अधर्म के गर्त्त में फेंकने वाले भण्ड आचार्यों के दूसरे दल को कैसी विद्वेष और क्रोध भरी दृष्टि से देख रहा है !

उन दण्डधारी साधु और साध्वियों के उपदेशों को सुनते हो न ? उस पर विचार करने के लिये तुम्हारे पास बुद्धि है न ? अरे ! ये दो आँखें

गुण-दोषों का विवेचन-विश्लेषण करते हुए अंत में प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी के निम्न विचार उद्धृत किये थे, क्योंकि उनमें 'भग्न हृदय'के लेखों की समस्त विचार-भूमिका आ जाती है। साधुओं के सम्बन्ध में आज भी यह दृष्टिकोण उतना ही मूल्य रखता है। उन्होंने कहा है—

"आजकल समाज को जिस प्रकार के ज्ञान और त्यागवाले गुरुओं की जरूरत है—सेवा लेने वाले नहीं, किन्तु सेवा देनेवाले मार्गदर्शकों की जरूरत है, उस प्रकार के ज्ञान और त्यागवाले गुरु उत्पन्न करने के लिये विकृत गुरुत्ववाली संस्था के साथ आज नहीं तो कल समाज को असहकार किये ही छुटकारा है। हाँ, गुरुसंस्था में यदि कोई एकाध माई का लाल सच्चा गुरु जीवित होगा तो ऐसे कठोर प्रयोग के पहले ही गुरुसंस्था को बर्बादी से बचा लेगा। जो व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय शांति-परिषद् जैसी परिषदों में उपस्थित होकर जगत् का समाधान हो सके, ऐसी रीति से अहिंसा का तत्त्व समझा सकेगा, अथवा अपने अहिंसा-बल पर वैसी परिषदों के हिमायतियों को अपने आश्रमों में आकर्षित कर सकेगा, वही इस समय सच्चा जैन.गुरु बन सकेगा। इस समय जगत् पहले की अल्पता में से मुक्त होकर विशालता में जा रहा है। वह कोई जात-पाँत, संप्रदाय, परम्परा, वेष या भाषा की खास पर्वाह किये बिना ही मात्र शुद्ध ज्ञान और शुद्ध त्याग का मार्ग देखता हुआ खड़ा है। इससे यदि हमारी वर्तमान की गुरुसंस्था शक्तिवर्धक होने के बदले शक्तिबाधक ही होती हो तो उसकी ओर जैन समाज की भी भलाई के लिये पहले से पहले अवसर पर समझदार मनुष्य को उसके साथ असहकार करना, यही एक मार्ग रहता है। यदि ऐसा मार्ग पकड़ने की परवानगी जैन शास्त्र में से ही प्राप्त करनी हो तो वह भी सुलभ है। गुलाम वृत्ति नवीन रचती नहीं और प्राचीन को सुधारती या फेंकती नहीं। इस वृत्ति के साथ भय और लालच की सेना होती है। जिसे सद्गुणों की प्रतिष्ठा करनी होती है, उसे गुलामी की वृत्ति का बुरका फेंक करके प्रेम तथा नम्रता कायम रखते हुए ही विचार करना उचित मालूम होता है।"

लाल लोग और सामायिक में बैठे नंगी खोपड़ी वाले अधिक धार्मिक सुश्रावक। उधर खड़ी हो गयी सुश्राविकाएँ (व्याख्यान सुनने के मिस से आने वाली श्राविकाओं की संख्या जैसे उसी मिस से आने वाले श्रावकों से ज्यादा होती है, वैसे ही पच्चक्खाण लेने के लिये, व्रतोपवास तपस्यादि करने वालों से ज्यादा थी।) इस तरह खड़े हुए श्रावक और श्राविका मण्डली में से आवाजें आने लगीं—'नवकारसी,' 'साढ़ पोरसी,' 'उपवास,' 'आमिल,' 'बेला,' इत्यादि-इत्यादि। साधु महाराज ने एक साँस में सबको उनकी माँग के माफिक पच्चक्खाण करा दिये। इसके अलावा अगर मौका मिल गया तो दो-चार को रात्रि-भोजन-त्याग, या रास्ते की सेवा, या साल में कम-से-कम एक दफा 'पूजजी' महाराज के दर्शनों की सौगन्ध करा दी।

घोर अज्ञान

●

यहाँ यह कह देने में कोई शंका नहीं कि व्रत लेने वालों या पच्चक्खाण करने वालों में से ९९ फी सदी असली जैनत्व को नहीं जानते, अहिंसा और कर्म के सिद्धान्त को जीवन में उतारने की बात तो दूर, समझते तक नहीं; "सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्ष मार्गः" सूत्र को शुद्ध या अशुद्ध रूप में सुनते रहते अवश्य हैं, पर सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र क्या है, वे इसे नहीं जानते। चौदह नियम और बारह व्रत आदि श्रावकोचित नियमोपनियम उनके कानों मे जरूर पड़ते रहते हैं और उनके पालन की प्रतिज्ञाएँ वे ले भी लेते हैं, पर उनका वास्तविक पालन कैसे हो सकता है, उनमें कौनसा तत्त्व छिपा है यह सब जानने की जिज्ञासा वे नहीं रखते। उन ९९ फी सदी सुश्रावकों को उलटी-सीधी पट्टी पढ़ाने वाले और धर्म के नाम पर धर्मांमास, कर्म के नाम पर भाग्यवाद और अकर्मण्यता, अहिंसा के नाम पर भीरुता का प्रचार करने वाले, त्याग और तपस्या, निवृत्ति और अपरिग्रह की जगह रूढ़िवाद, अविचारशीलता, सत्यासत्य और धर्माधर्म को न पहिचान सकने वाली यंत्रचालित-सी कुबुद्धि का प्रसार

दुर्भाग्य से, हमारे त्यागपत्र दे देने के बाद 'ओसवाल नवयुवक' के प्रकाशन की व्यवस्था संभव ही नहीं हुई और वह बन्द हो गया। इस सारे बवण्डर में 'भग्न हृदय' एक स्फुलिंग की तरह चारों तरफ फैल गया और कौनसा दिन जाता था, जब हमारे पास इस आशय के पत्र न आते कि 'भग्न हृदय' के लेख समाज की आँखें खोलने के लिये, साधु-समाज को सही मार्ग पर लाने के लिये बहुत आवश्यक हैं, अतएव उनके प्रकाशन के लिये अब दूसरा पत्र निकालिये। निरंतर इस प्रकार का आग्रह आता रहा, जिससे प्रेरित होकर हमने जनवरी, १९४० में तरुण जैन संघ की स्थापना की और उसकी ओर से मासिक 'तरुण ओसवाल' का प्रकाशन शुरू किया। अगस्त '४२ की राष्ट्रीय क्रांति में मैं, भाई विजयसिंहजी नाहर, भाई सिद्धराजजी ढड्ढा और दूसरे भी कुछ साथी जेल के सीखचों में बन्द कर दिये गये। तब 'तरुण ओसवाल' का प्रकाशन स्थगित हो गया। इस बीच हर अंक में 'भग्न हृदय' का लेख, या पत्र छपा। श्रावकों और साधुओं—अधिक पढ़े-लिखे और कम पढ़े-लिखे—वृद्धों और युवकों सबके आकर्षण का केन्द्रबिन्दु 'भग्न हृदय' था। साधु-साध्वियाँ अपने-अपने श्रावकों से मँगवाकर चुपके-चुपके 'भग्न हृदय' को पढ़ते थे। 'भग्न हृदय' ने एक बड़ी क्रांति का रूप लेना शुरू किया।

क्रांति की इस निर्भीक वाणी का लेखक 'भग्न हृदय' कौन है ?—यह प्रश्न कभी विनयपूर्ण जिज्ञासा के रूप में और कभी धमकी के रूप में पूछा जाता था। इतना ही नहीं बाद में पाठकों द्वारा नाम के बारे में अनुमान भी किये जाने लगे और हमने इन अनुमानित नामों को छापना शुरू किया। "'भग्न हृदय' कौन ?" भी हमारी संपादकीय टिप्पणी का एक अपरिहार्य अंग हो गया। ऐसे-ऐसे लोगों के नाम भी अनुमानित किये गये थे, जिनको शायद आचार्यों और गुरुओं के सामने दूसरों के अनुमान के लिये भी अपनी सफाई देनी पड़ी होगी।

नाम की कहानी को भी यहाँ खोल कर बता दे रहा हूँ। जिस "साधुत्व" शीर्षक लेख के कारण 'भग्न हृदय' का नाम सामने आया, उसके

न किसी फोड़े को फोड़कर पीप बाहर निकालने के लिये है। इसमें वह सर्जन है, जो रोगी के रोने-चीखने की परवाह न कर नश्तर चलाना अपना धर्म समझता है। वर्षों तक इस व्यंग्य-बाण ने जीवों की जड़ता का वेधन करने के लिये जो कार्य किया, वह व्यर्थ नहीं गया। चिल्ल-पों की जगह आज परिवर्तन की हवा दीख रही है। कहाँ १९३८, और कहाँ १९६१ ! पर, जो परिवर्तन दीख रहा है, वह अभी जितना बाहरी है, उतना आन्तरिक नहीं। बाहर से युगानुकूल होना ही यथेष्ट नहीं है, भीतर से जीवन-मूल्यों में परिवर्तन करके विज्ञान के प्रकाश में जीवन को नये ढंग से देखना और रचना होगा। आज धार्मिक क्रांति का लक्ष्य इन मूल्यों का परीक्षण है। संस्था-गत विकारों के अतिरिक्त अब तो धर्म के बुनियादी सवाल पर भी विचार करना है। विज्ञान की कसौटी पर धर्म को भी उतरना होगा। इन लेखों का प्रकाशन उसी चेतना को जगाने और आलोकित करने के उद्देश्य से है, जिससे हम अपने भीतर और बाहर की विषमता और विकृति को देख-समझकर उसका समाधान ढूँढ़ सकें।

१६२।२६।१, प्रिंस अनवरशाह रोड,
कलकत्ता—३१

—भँवरमल सिंघी

वसंत पंचमी, २१-१-'६१

तो हैं ? मैं तुम्हें इन दो आँखों को मूंद कर न चलने दूँगा। यदि ऐसा करने की चेष्टा करोगे तो मैं उन को फोड़ दूँगा। नहीं ही मानोगे, तो दो लौह-शलाकाएँ गरम कर के उनमें ठूंस दूँगा। तुम क्यों इनके प्रति अन्ध-श्रद्धा के भाव प्रकट कर के इन्हें, और अपने आपको भी पतित करते हो ?

ये सेठ !

●

देखते नहीं हो ? इनके पास जाने और इनके उपदेशों पर सजाये गये उन देव-स्थानों में प्रवेश करने का तुम्हें अधिकार नहीं है। वह जो राजा साहब है, वह जो करोड़पति सेठ है—वह वीतराग का प्रक्षाल पहले कर सकता है; वह जो नीलाम की बोली में सबसे बढ़कर बोलने वाले जौहरी का छोटा-सा अबोध पौत्र है वही रथयात्रा के रथ पर चढ़ सकता है; वह जो रेशमी धोती पहिन कर इत्र से मन्दिर को महकता हुआ बाल संवारे गले में सोने की जंजीर डाल कर चला आ रहा है—वह भगवान् के अंग पर इत्र-लेप कर सकता है, केशर चढ़ा सकता है, वर्क की तह पर तह लपेट सकता है, उनकी आरती उतार सकता है; वह जो व्याख्यान में साधु महाराज के बिलकुल सामने चक्करदार पगड़ी बांधे और पन्ने का कंठा गले में पहिने सफ़द-पोश और रेशमी दुपट्टे वाला बैठा है और जो भयानक ज्ञानी बन सब कुछ समझने वाले की भांति बीच-बीच में 'हाँ, महाराज !' 'यही बात, महाराज !' बड़बड़ा उठता है और जो भगवान् पर आये हुये उपसर्गों के प्रसंग के अवसर पर सिहर उठने का-सा अभिनय करता है—वह चौदह स्वप्नों की रजत और स्वर्णिम् मूर्तियों को अपने हाथ से छू सकता है, वह भगवान् के जन्म के दिन उनके लिये बनाये गये जड़ाऊ पालने (झूले) को झुला सकता है, वह लड्डुओं और पेड़ों, खिलौनों और रुपयों का ढेर प्रभावना में देकर अपनी वाह-वाही करा सकता है। तुम—कङ्गाल, निर्धन कङ्गाल, स्वाभिमान और स्वप्रतिष्ठा की रक्षा के लिए अपने उन थोड़े से बचे हुए पुराने जीर्ण निकम्मे-से कपड़ों को भी बढ़िया समझ कर सँवार-सँवार

पहिननेवाले पागल श्रावक ! उसके सामने तुम्हारा क्या अधिकार है ? तुम्हारी क्या पूछ है ? तुम्हारी कितनी अपेक्षा है ? उसके सामने तुम स्नान करके ठिठुरे हुए खड़े रहो, दांतों की खंजड़ी बजाते रहो, हाथों को बगल में दबा धूप की क्षीण रेखा की तलाश में घूमते रहो, तुम पहिले प्रक्षाल न कर सकोगे, तुम पहिले भगवान् के अंग को न छू सकोगे, दरिद्रता का अभिशाप तुम्हें कुछ न करने देगा। तुममें धर्म के सिद्धान्तों को समझने और उन पर आचरण करने की क्षमता है, शक्ति है पर, तुम्हें तो धर्मशाला और उपाश्रय का वह कोना ही उपलब्ध हो सकेगा ! तुम पास बैठने की और ठीक-ठीक सुनने की धृष्टता नहीं कर सकोगे।

साधुओं का दल

देखते नहीं हो, वह कपड़े का टुकड़ा मुँह पर बाँध कर वायुकायिक जीवों की रक्षा कर अहिंसा धर्म को समूल समझने का दावा करने वाले साधुओं का दल क्या करता है, क्या सिखलाता है और क्या करने को कहता है ? उनके पास बैठे हुए उन १०-१२ वर्ष के शिष्य साधुओं को तुम देख सकते हो न ? धर्मोपदेश के समय उनकी चेष्टा और बाल-सुलभ चपलता को देख कर, 'गोचरी' के लिए जाते समय की उनकी चाल-ढाल और हाथ-पैर-संचालन की क्रिया को देख कर उनके सम्बन्ध में तुम कुछ निर्णय नहीं कर सकते ? वह जो इस मण्डली के बाईं ओर कुछ दूरी पर, आर्यिकाओं—सतियों—की मण्डली बैठी है उसमें बैठी हुई उन नन्हीं नन्हीं बालिका-साध्वियों को तुम देख सकते हो न ? इनको बोलते तुमने सुना है न ? संयुक्ताक्षर की बात दूर, वे वर्णमाला का शुद्ध उच्चारण भी तो अभी नहीं जानती हैं। तुम्हें विश्वास है कि यह साधु और साध्वियों के योग्य आचार-व्यवहार का पालन कर सकेंगी, जीवन की सबसे बड़ी कसौटी युवावस्था में, इन्हीं परिस्थितियों में और धर्म की हत्या करने वाले नीचों के पास और अज्ञानी समाज के बीच रह कर, इस निर्विकार, शान्त, वैरागी

साधु-जीवन के मार्ग को सफलतापूर्वक पार कर सकेंगी ? अपने चेले-चेलियों की संख्या बढ़ाने के लिये आतुर इन गुरुओं के गुरुडम पर तुम्हें चोभ नहीं होता ? तुम्हें लज्जा नहीं आती ? उन पर क्रोध नहीं आता ? वयज्ञान, अनुभव, शिक्षा, संस्कार सबकी उपेक्षा कर चेले-चेली मुंड़ने वाले इन आचार्यों और निराले पन्थ के पथिक गुरुओं के सामने 'घणीखमा' कह कह कर क्यों इनको सिर पर चढ़ाते हो ? देखते नहीं, संसार इनकी ओर अंगुली उठा कर क्या कहता है और इनके अनुयायियो-तुम अंधों-पर क्या फब्तियाँ कसता है ? मानवता संकुचित हो इनसे कितनी दूर सिहरी हुई-सी खड़ी रहती है ? व्यवहार को भूल कर झूठे उपदेश देने वाले इन दम्भियों का जाल तुम्हें नहीं दीखता ? निर्बलों की रक्षा, पीड़ितों की सेवा, अत्याचारियों के दमन, निरीहों की सहायता के भावों को दूर फेंकने वाले, मनुष्यता का गला घोंटने वाले इनके धार्मिक सिद्धान्त तुम्हारी आत्मा का कल्याण कर सकेंगे ? पूंजीवाद, भौतिकवाद, वैज्ञानिक संघर्ष और जिसकी लाठी उसकी भैंस के इस विषम युग में वायु की भाँति घेरे रहने वाले समाज, राष्ट्र और विश्व के जटिल प्रश्नों की उपेक्षा कर यह व्यक्तिगत कल्याण और स्व-आत्म-उत्थान की स्वार्थ-पूर्ण झूठी आकांक्षा और शिक्षा तुम्हें कहाँ ले जा पटकेगी ? सोचो न !

दया

●

चौड़ा-सा कपड़ा बांधने वाले अपनी ढफली अलग ही बजा कर अपने थानक में मस्त रहने वाले उस साधु-दल को तुम देखते हो न ? उनके जीवन, उनकी शिक्षाओं, उनके कर्तव्यों को भी तुम देखते ही रहोगे ? कुछ न कर सकोगे ? कसाईखाने बन्द करवाने, अकता करवा कर हलवाइयों और भाड़ सेकने वालों की दूकानें बन्द करने के लिए जो चन्दा किया जा रहा है, उसमें देने को तुम्हारे पास पैसे हैं ? तुम कुछ रुपये लगाकर अपने साधर्मियों को उपाश्रय में 'दया पालने' के लिए बुला सकते हो ? उपदेश

के लिए बनाये गये, इन रंगे सियार साधुओं के पदों और गीतों को पुस्तकाकार छपवाकर इनका डंका बजवाने की तुम में शक्ति है? अरे! बोलो सुश्रावक! तुम्हारे पास कितने पैसे हैं? तुम्हें दया-पालन सीखना है न? तुम्हें अहिंसा का यह विकृत पाठ पढ़ना है न? तुम्हारा नन्हा बच्चा भूख से और तुम्हारे पड़ोसी का इकलौता बेटा बीमारी में फल और दूध के अभाव से मरते हैं, उन्हें मरने दो!! अरे! उन्हें व्रत दिलवा दो न पाँच-सात या तीस दिन के उपवास का! और पैसे बचा कर दया पालने के लिये जो फण्ड इकट्ठा हो रहा है उसमें दो! तुम्हारी जो ये आँखें गड्ढे में से निकली पड़ रही हैं; गाल चिपके जा रहे हैं; हाथ-पैर की नसें हड्डियों पर सूखी बेल-सी लिपट कर ऐंठी जा रही हैं; पेट और कमर में निरन्तर पास पहुँचते रहने से जो सूक्ष्मता बढ़ती जा रही है; पाँव जवाब दे रहे हैं और बोलते समय शुष्कता के कारण जीभ बार-बार बाहर आकर सूखे होठों पर तरी पहुँचा जाती है, इसी दया से तो तुम्हारी और तुम्हारे समाज की, तुम्हारे कुटुम्बियों और तुम्हारे राष्ट्र की आत्मा का कल्याण होगा!

श्रावक! इन मिचमिच जाने वाली तपस्या से तपे हुए शरीर में से बाहर निकल कर अन्यत्र आश्रय ढूँढ़ने वाली आँखों से तुम्हें दीखता है न? देखो तो, यह नंगे, दण्डी, बड़ी मुँहपत्ती वाले, छोटी मुँहपत्ती वाले भण्ड साधुओं का दल, यह इन्द्रियों का निग्रह करने और राग-द्वेष-शून्य वृत्तियों से युक्त हृदय रखने का दावा करने वाले साधुओं और यतियों का जत्था अपना, तुम्हारा, समाज, राष्ट्र, विश्व और अनन्त प्राणी-समूह का कल्याण करता है न?

तुम बैठ सको तो आँखों के पट्टी बाँध कर बैठो; वह भी नहीं कर सकते तो मुझे कहो न! मैं क्रूर होकर तुम्हें इन ज्योतिहीन आँखों से मुक्त कर दूँ और उनकी जगह देखने की शक्ति उँडेल दूँ। तुम्हारे जैसे 'आँखों वाले अन्धों' को संसार में रहने का अधिकार नहीं है!

श्रावक! तुम वहाँ क्यों जाते हो? तुम साधुत्व ढूँढ़ते हो—वह तो वहाँ नहीं है! तुम गृहस्थ बनना चाहते हो या साधु बनना चाहते हो?

श्रावक ! विश्व के कल्याण के लिये, अपने और अपने चारों ओर फैले हुए इस संतप्त संसार के यथा-साध्य कल्याण के लिये तुम साधु-गृहस्थ बनो ! बोलो, बन सकोगे ?

साधुत्व !

एक भावना है, जो वेष, संस्था संप्रदाय और संगठन से दूषित हो जाता है। साधुत्व सारे समाज की चीज है। किसी अमुक वर्ग, संप्रदाय या समूह की थाती नहीं। इस बुनियादी बात को तुम क्यों नहीं समझते हो, ओ भोले श्रावक !

'ओसवाल नवयुवक'
अगस्त-नवम्बर, १९३८

श्रावक से

गुरु महाराज के सामने श्रद्धा और भक्ति से नतमस्तक ओ भोले श्रावक, क्या तुम अपने हृदय की, अपने धर्म अपने देश और अखिल मानवता की गरीबी, न केवल साम्पत्तिक गरीबी, न केवल सांस्कृतिक गरीबी, न केवल तथाकथित धार्मिक गरीबी, न केवल साहित्यिक गरीबी और, और न केवल सूक्ष्म चारित्रिक गरीबी, वरन् जीवन को संकीर्ण और परतंत्र बनानेवाली जीवन को दयापूर्ण बनानेवाली बौद्धिक गरीबी, और गुलामी का घेरा तुम्हें दीख रहा है? तुम टटोल सकते हो न, उस घेरे की मोटी-मोटी दीवारें? तुम टक्कर खा रहे हो, फिर भी तुम चुप हो। तुम्हें कुछ खयाल होता है, उस अतीत की सम्पत्ति का, उस सजीव धर्म और संस्कृति का जिसकी रचना में तुम्हारे पूर्वजों ने जीवन की साधना का समा बांध दिया था। तुम आज भी तीर्थ-स्थानों में जाते हो न? तुम्हारे हृदय में आज भी भव्य जैन-तीर्थ की कल्पना होती है न? मैं देख रहा हूँ, तुम्हारा हृदय क्रंदन कर रहा है, तुम अन्दर ही अन्दर विसूर रहे हो; तुम छटपटाते हो, पर गुलाम बनी हुई तुम्हारी मनोवृत्ति से तुम अपाहिज हो! मैं जानता हूँ, मैं देख रहा हूँ, तुम अपाहिज हो।

तुम वहाँ खड़े हो—किसलिये? तुम्हें उनके बीच में से ऋषभ, पार्श्व, या महावीर खोजना है, तुम्हें उनके बीच में गौतम, सिद्ध, या हेम ढूँढ़ना है? श्रावक, कितने दिन से तुम यहाँ खड़े हो; कितने दिन खड़े रहोगे? तुम जो चाहते हो, वह तुम्हें यहाँ नहीं मिलने का? ऋषभ, पार्श्व, महावीर, गौतम, या हेम को ढूँढ़ना नहीं पड़ता; दबी हुई मानवता, फैली हुई हिंसा

और जीवन शून्यता को दूर करने के लिये, यदि इन महाराजों में कोई भी वैसा होता तो दौड़ पड़ता। तुम्हें उन्हें ढूँढ़ने जाने की जरूरत नहीं। सेवा और धर्म के अवतारों को ढूँढ़ना नहीं पड़ता। आज तो इन्हें उस गरीबी का भान भी नहीं होता; हाँ वे सर्वज्ञ, कम से कम सर्वज्ञता के उत्तराधिकारी हैं। भोले श्रावक, तुम उनके कथनों पर 'सत्य वचन महाराज,' 'तहत्तवाणी स्वामी,' और 'घणी खमा सामी' कहते-कहते थकते नहीं हो? तुम्हें अपनी अज्ञानाश्रित गुलामी पर पश्चात्ताप नहीं होता; तुम्हें इन उपदेशों से जीवन की गति में प्रफुल्लता आयी मालूम पड़ती है! तुम्हें वहाँ जाने में क्या उद्देश्य समझ पड़ता है? अगर ज्ञान की भूख तुम्हें वहाँ ले जाती है तो मैं तुम्हें कह दूँ, और तुम स्वयं भी तो देख चुके हो, जान चुके हो, वहाँ तुम्हें ज्ञान भी कुंठित हुआ मिलेगा। तुम्हारी जिज्ञासा, तुम्हारी सहज शंकाओं को वे संदेह भरी दृष्टि से देखते हैं। तुम्हें वे कहते हैं, 'भगवान के वचनों में श्रद्धा रखो, उसमें शंका मत करो। यह है उनका समाधान! यह है इस वैज्ञानिक युग में उनकी ज्ञान-मीमांसा। दिन प्रति दिन विस्तृत होती हुई भौतिक और अध्यात्मिक ज्ञानप्रसार-सीमा की रोशनी देख कर यदि तुम साधु महाराज के वचनों में तर्क और प्रमाण चाहते हो तो वे तुम्हें धर्मद्रोही, शास्त्र-मर्यादा उल्लंघन करनेवाला बताकर तुम्हारी भर्त्सना करेंगे। और ओ भोले श्रावक, तुम देखते नहीं हो, उन्हीं निवृत्त साधु महाराज के पास भौतिक सम्पति के नशे में मत्त, धन से मोक्ष का द्वार ढूँढ़ने वाले, कम-से-कम संसार में तो उस मोक्ष की भूमिका प्राप्त करनेवाले समर्थ श्रावक, महाराज के निर्णय पर हाँ, हाँ कहनेवाले, महाराज के प्रस्ताव का समर्थन करने वाले भी तो हैं। और, असमर्थ श्रावक, क्या तुम यह भी जानते हो कि वे ऐसा किसलिए करते हैं? वे इज्जत चाहते हैं, मान के भूखे हैं, ज्ञानी और धर्मप्रेमी कहलाना चाहते हैं, सर्वोपरि वे अपने चरित्र के दोषों को महाराज की वाहवाही से—जहाँ शब्दों में वाहवाही न होती हो, वहाँ वाह-वाहीपूर्ण मुखाकृति से ही आवरित करना चाहते हैं। यह ज्ञान और धर्म का व्यभिचार, श्रावक! तुम्हारी कल्पना में आता है न? क्या तुम ऐसे

रंगे सियारों, ऐसे बने इन सद्ग्रहस्थों (!) को नहीं जानते, जिनकी कामुकता ने कितनी अबलाओं को पतित किया है, जिनकी सत्ता ने समाज की स्वाभाविक आकांक्षा का दमन किया है, जिनकी लोभवृत्ति ने हजारों मजदूरों और निर्बलों के प्राण शोषित किये हैं। और फिर भी क्या तुमने उन्हें सुसज्जित वेशभूषा में मंदिर में भगवान् के सामने या महाराज और "हुजूर सा" के स्थान में तहत्तवाणी और घणी खमा करने वाले धर्मात्माओं (!) की अग्र पंक्ति में खड़े नहीं देखा है ? श्रावक, तुम्हें रोष हो रहा है; नहीं, नहीं, अब तुम अपनी शक्ति को रोष में न खोओ, इसको उस क्रांति के लिए बचाकर रखो जो शीघ्र आनेवाली है। धर्म को अभिशाप बना देनेवाले, पवित्र धर्म के आवरण में गुलामी का वातावरण और अंधश्रद्धा का नाटक रचनेवाले इन सुश्रावकों (!) को भगवान् के ये शासन सूत्रधार, ये आत्म-कल्याणक मुनि कुछ नहीं कहते; हाँ; ये कुछ नहीं कहेंगे, क्योंकि अगर ये न हों, और इनकी प्रशंसा न की जाय, यदि इनके वीभत्स पाप कर्मों से उदासीनता न रखी जाय, तो मंदिरों में अठाई महोत्सव कौन कराएगा, वरघोड़ा कौन निकालेगा, श्रावक वर्ग को दया कौन पलवाएगा, कसाई-खाने कौन बन्द करवाएगा ? अबोध चेले-चेली देनेवाले माता-पिताओं को कौन रुपया देगा ? इन दीक्षाओं के आयोजन में कौन खर्च करेगा; इनकी अंधश्रद्धा करनेवाले श्रावकों को नौकर कौन रखेगा, पूंजी कौन उधार देगा या दलाली कौन बतायेगा; इनके उल्टे-सीधे वचनों पर 'तथास्तु वचन' और 'घणी खमा' कौन कहेगा, इनके चातुर्मास में या अन्य मौके पर विराट् महोत्सव का आयोजन कौन करेगा; इनके स्तवनों, पदों और ढालों की पोथियाँ कौन छपवाएगा ? इनकी चेले-चेली ढूँढ़ने की वृत्ति के आन्दोलन में कौन सहयोग देगा ? इनके साम्प्रदायिक कलह को कौन पोषित करेगा, इनके ज्ञान के दीवाले को आदर और मान से कौन छिपाएगा ? और उनके लिए चेले-चेली आकर्षित करने का ठाठ कौन बनायेगा, उनके लिए बिन्दोरे-बिन्दोरियाँ कौन निकालेगा ? और ये नहीं हों तो वे अपने ऊपर की हुई समीक्षा का उत्तर किनसे दिलवाएँगे क्योंकि खुद तो ये ठहरे रागद्वेषहीन !

श्रावक, तुम वहाँ महाराज के पास खड़े-खड़े धर्म और पाप की परीक्षा जानना चाहते हो। वे तुम्हें शास्त्र के वचन कह रहे हैं। तुम उनको सुनते हो न! इससे आगे तुम नहीं पूछ सकते, नहीं पूछ सकते। मैं तुम्हें कह चुका; इनके शास्त्र के बाहर की बात करना मर्यादा से स्खलित हो जाना है। तुम्हारा वर्तमान कुण्ठित जीवन मानवता की जटिल समस्याएं उनके संकीर्ण और जड़ मानस में प्रतिबिम्बित नहीं हो सकतीं; उन्हें तो दोनों समय गरीब-से-गरीब श्रावक के घर भी अपेक्षाकृत उत्तम-से-उत्तम भोजन मिल ही जाता है। कुछ परिश्रम तो करना नहीं है; जो पाटियाँ और बोल पढ़ लिये हैं, उन्हें ही पढ़ते जाना है, एक स्थान में बैठकर श्रावकों की सेवा स्वीकार करते रहना है, और सेवा के बदले व्रत-उपवास आदि के सौगन्ध दिलाकर मोक्ष के द्वार में प्रविष्ट करा देना है।

कसौटी

●

श्रावक, तुम समझते हो कि तुम साधुसमाज के दोष बता सकते हो! तुम उनकी बातों को वैज्ञानिक कसौटी पर कस सकते हो! तुम चाहते हो साधुसमाज के विधि-विधान में, उनके मानस में, उनकी कल्पना और विचारों में परिवर्तन, सुधार होना चाहिए! लेकिन, वह तो होगा नहीं। वे तुम्हारा अधिकार ही क्या समझते हैं कि तुम कुछ उनके बारे में कहो? आज तुम साधु-समाज को ज्ञानशून्य क्रिया, अर्थहीन रूढ़ियों का दास नहीं देखना चाहते; पर वे तुम्हारी ऐसी बातों को ही नहीं सुनना चाहते। वे तुम्हें फटकार भी सकते हैं; यद्यपि वे स्वयं तो राग-द्वेषहीन हैं, पर अपने भक्तों द्वारा तो फटकार दिला ही सकते हैं। और ऐसे भक्त भी कम नहीं हैं जो महाराज की तारीफ कर महाराज से और उनकी अन्धभक्त टोली से वाहवाही लूट लेने वाले हैं और इस वाहवाही का व्यावसायिक फायदा उठा लेते हैं। और ऐसे अंधे भक्तों की टोली महाराज के पास सदा जमी ही रहती है, और कहीं-कहीं तो इन अन्ध-भक्तों को बनाये रखने के लिए वे

आधुनिक शिक्षा का भी विरोध करते हैं, क्योंकि उससे मनुष्य का दृष्टिकोण विशाल और वैज्ञानिक होगा और वे जानते हैं कि शिक्षा पाकर जब तुम्हारी और तुम्हारी संतान की आँखें खुल जायेंगी, जब तुम्हें प्रकाश मिल जायगा, तब तुम्हारे हृदय में उनकी सेवा के लिये कहाँ छटपटाहट रहेगी, कब तुम उनके पदवी-महोत्सवों में शामिल होओगे, कब तुम उनको अपनी अबोध बालक-बालिकाएँ संख्या-वृद्धि के लिये भेंट करोगे ? श्रावक, वे तो तुम्हें ज्ञान के प्रकाश में नहीं आने देंगे; अगर तुम्हें अपनी साधना उज्ज्वल बनानी है तो तुम स्वयं शक्ति-पुञ्ज बनो, और उस पुञ्ज में से एक शक्तिमय क्रांति को जन्म दो।

सावधान

०

अतएव ओ श्रावक, इन महाराजों का अन्धानुगमन न कर, इनको समाज की असलियत की ओर लाओ। जैन समाज की रक्षा करनी हो तो तुम अपने पैरों पर खड़े हो। सारे श्रावको, तुम मिलो और साधुसंस्था को सजीव बनाओ, उसे पवित्र करो; उनमें जो अज्ञान, जो अविवेक, जो जड़ता और कर्तव्यविमुखता आ गयी है। उसको तोड़ो। साधु समाज को ये बुराइयाँ बताकर सम्बोधित करने में तुम्हें डर लगता है, तुम अपने से असली हालत भूल जाते हो; क्यों, भगवान् महावीर के चतुर्विध संघव्यवस्था के साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका किसी भी एक अंग को दूसरे को पतन मार्ग से बचाने के लिए, संघ की रक्षा के लिए बुराइयाँ बतलाने का अधिकार है। अगर मैंने भी कहा है या आज कह रहा हूँ, श्रावक तुमसे, तो इसी आधार पर। तुम से यदि कुछ भी न हो सके यदि तुम्हारे निर्बल हाथों में बल नहीं है तो ऐसी संकीर्ण साम्प्रदायिक व जड़ मनोवृत्ति वाले साधुओं से दूर तो रहो।

'ओसवाल नवयुवक'
दिसम्बर, १९३८

और यह सब धर्म के नाम पर।

लालसाहब, सेठसाहब, बाबूसाहब, राजासाहब या और कुछ—इन्हें कुछ भी समझ लीजिये, ये साधुओं की टोली, साध्वियों की मण्डली, यतियों के दल और 'जतनियों' के रेवड़, आर्य-आर्यिकाओं के यूथ और गुरु-गुरुणियों के गिरोह में तथा भोले-भाले श्रावक-श्राविकाओं के बीच प्रतिष्ठित और अग्रगामी व्यक्ति समझे जाते थे। एक प्रकार के लोगों से उनके बारे में मालूम हुआ कि उनका चतुर्विध संघ पर बड़ा असर था। कोई धर्मध्वजियों के ढर्रे पर चढ़ा हुआ व्यक्ति पूजन कर, दया-पालन या घोरातिघोरतम तपस्या कर अपने पापों को—कुकर्मों को—धोने का ढोंग रचता तो उनसे सलाह पहले ली जाती। स्वामी-वत्सल, ज्ञान-पूजा, ध्यान-पूजा, मान-पूजा, दया-पालन, सूक्ष्म-जीव-रक्षा, पचरंगी, नौरंगी, सौरंगी, मासक्षमण, अठाई महोत्सव या अढ़ाई महोत्सव, दीक्षा महोत्सव, माघ महोत्सव, 'पूज' जी के चातुर्मास की तैयारी आदि में से कुछ भी कोई व्यक्ति या समूह करता—और वह किया जाता धर्म के नाम पर, तो उनसे सलाह ली जाती, उन्हें बातचीत में, योजना बनाने में पहले बुलाया जाता। अगर न बुलाया जाता तो, लोग कहते थे कि, वे उन कामों में रोड़े अटकाते, एक विरोधी दल खड़ा करने की कोशिश करते थे। साधु, मुनिराज, यति, व्यास, और साधर्मियों में से कितनों ही को तो वे अपनी ओर किये हुए थे ही। सब पर उनके सुश्रावकत्व की छाप थी, इसलिये बवण्डर खड़ा करने में उनको तनिक भी दिक्कत नहीं उठानी पड़ती थी।

व्याख्यान सुनने अर्थात् 'वखाण' में वे रोज जाते। कभी अपनी मिलों

के मजदूरों की बेपरवाही पर उनकी दो-चार रोज की तनख्वाह काटने की मैनेजरों को खास हिदायत देने, या गिरवी रख कर अथवा उधार रुपया लेने वालों से सूद की पाई पाई वसूल कर लाने के लिये अपने मुनीम-गुमाश्तों, सेक्रेटरीयों को पूरी ताकीद कर देने, या ऐन रवाना होने के मौके पर कुछ पैसों की छूट दे देने की गिड़गिड़ा कर दरख्वास्त करने के लिये खिदमत में हाजिर होने वालों को डाट-फटकार पिलाने और उनकी सात पीढ़ियों की स्त्रियों, दादियों, माँओं और बहनों से रिश्ता कायम करने में या ऐसे ही कामों के सबब से उन्हें कभी व्याख्यान में ठीक समय पर पहुँचने में देर हो जाती और श्रावक मंडली के इकट्ठे हो जाने के कारण खास मुनिमहराज के चरणों या सती, गुरुणी अथवा आर्यिकाजी के चरण-कमलों के पास स्थान खाली नहीं दिखता तब यह जानते हुए भी कि उन्हें पीछे नहीं बैठने दिया जायगा और यह समझते हुए भी कि वे स्वयं पीछे बैठना अपने सुश्रावकत्व की प्रतिष्ठा के खिलाफ मानते हैं, दिल को धोखा देकर और अपनी विनम्रता की छाप भण्ड मुनिराजों और चापलूस श्रावकों के दल पर जमाने के लिये, वे अन्य व्यक्तियों को इधर उधर से उलांघ कर आगे बढ़ जाते और पीछे ही बैठ जाने के उपक्रम एकसाथ करते। व्याख्याता—प्रमुख मुनिराज—और उनके पास बैठी साध्वियों तथा उनके चेलों की टोली व्याख्यान बोलना, सुनना भूलकर मुँहपत्ती वाले हाथ को या मुख पर मुँहपत्ती बंधे सिर को ऊँचा उठाकर बोल उठते "आओ, सुश्रावक, आगे आओ आज तो बहुत देर कर दी।" साथ ही दस पाँच सुश्रावक बोल उठते "आइये,·····साहब, आगे आइये, आगे।"

और, सुश्रावक अपनी गर्वपूर्ण आँखों को इधर-उधर मटकाते, लटकते हुए दुपट्टे के छोर को श्रावकों के मस्तक पर रगड़ न खाने देने की दृष्टि से कभी इधर और कभी उधर फटकारते (इस फटकार से किसी की आँख या किसी के गाल पर हलकी-सी चपत पड़ जाना तो स्वाभाविक था ही,) दांये-बांये जयजिनेन्द्र करते किसी के पॉव की उङ्गलियों और किसी के हाथों की उङ्गलियों के पोरों को धीरे से पांव द्वारा कुचलते और उलांघते

श्री…"१००८ साधु महाराज के पट्ट के पास पहुँचकर 'इच्छामि खमास-मणो…या ऐसे ही कुछ और वाक्यों का बगैर समझे अशुद्ध उच्चारण कर देते। देरी हो जाने के कारण संक्षेप में बतलाते और कहते कि दिन-रात गृहस्थी का जंजाल तो रहता ही है, पर इस वक्त भी फुरसत नहीं मिलती। बड़ी मुश्किल से आ पाते हैं सिर्फ धर्म-श्रवण और शास्त्र के वचन कानों में पड़ जायें इसलिये, (जो करें सो धर्म के नाम पर या धर्म के लिये)। छोटी-सी व्याख्यान-शाला में पट्ट पर व्याख्याताजी और पास ही में इर्द-गिर्द चेलों और चेलियों, छोटे-छोटे स्वामियों और सतियों का गुट और एक तरफ परदे में या परदे के बाहर धर्म में असीम श्रद्धा रखने वाली श्राविकाएँ मय अपने कच्चे-बच्चों के और दूसरी तरफ थोड़े-बहुत श्रावक मय अपने घर के उन बाकी कच्चे-बच्चों के जो अपनी माँ, दादी, मासी, भुआ, चाची, जीजी के साथ नहीं आये हुए थे। ये कच्चे-बच्चे अभी से मोक्ष में भेजे जाने के लिये और ज्यादा समझदारी से कहा जाय तो संसार को पार कर जाने वाले उन छोटे-छोटे स्वामियों व सतियों को देख कर धर्म के संस्कार उनके दिमाग में जम जायँ इसलिये घसीट लाये जाते थे। वे अपने रोने और हँसने या किलकारी मारने से अथवा व्याख्यान-शाला की कैद से मौका मिलने पर बाहर निकल धूम-धड़ाका मचा व्याख्यान-शाला मे और उसके बाहर एक अजीब वातावरण बना देते थे। इनकी और इनके अभिभावकों की और वयः प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं की संख्यातीतता देखने को मिलती उस दिन, जिस दिन मिठाई के दौने बंटने की गंध उन लोगों को लग गयी होती।

क्रियाकांड

●

खैर, तो सुश्रावक आते और फिर एक तरफ की खूंटी पर अपनी पगड़ी, चोला या शेरवानी, कमीज आदि (धोती भी कभी कभी बदल लेते थे) रख सामायिक करने आ बैठते। गले में पड़ा सोने का डोरा का

लड़ व पन्ना-माणक-मोती की कंठी, डोरे में लटकता सोने का जंतर, दाहिने बाजू पर बंधा चांदी का जंतर या सोने का आभूषण, उङ्गलियों की अंगूठियों और कानों के बढ़िया लौंग तथा पॉव के अंगूठो के चांदी के छल्ले और कमर में महीन बारीक धोती (जिसके कारण बाहर भीतर में कोई अन्तर ही नहीं दिखाई दे) पर लटकती करधनी, जिसमें बड़ी-बड़ी तिजोरियों की चाबियों का गुच्छा और एक तीसरा जंतर झूलते थे। ये सब अलंकार अपने अपने स्थान पर ही डटे रहते। मानो अपरिग्रह व्रत का पालन शेरवानी और कमीज तथा पगड़ी को उतार शरीर तथा सिर को खुली हवा लगने देने से, या सर्दी लगे तब बढ़िया कश्मीरी शाल द्वारा उन्हें ढक लेने से, या वर्षा ऋतु में, मक्खी या मच्छर हैरान करते हों तो, झीनी चद्दर में उस अलंकारावृत्त शरीर को लपेट लेने से हो जाता हो।

दयनीय दृश्य

●

उधर चालू रहता व्याख्यान, जिसके बारे में खुद व्याख्याता मुनिराज ने यह जानने की कोशिश नहीं की कि कितने फी सदी श्रोताओं ने उसकी कितनी फी सदी बात समझी और कितनी-सी फी सदी बात को किस इने-गिने श्रावक ने अपने जीवन में ढालने की कोशिश की और उन्होंने जो कुछ कहा वह किसी भी अंश में धर्मानुकूल और वास्तविक धार्मिकता के प्रसार में सहायक होने वाला है या नहीं!

और इधर सुश्रावक और उन्हीं के दस-पाँच सामायिक-आसनासीन साथी माला फेरने लगते और चालू रखते अपनी ऊंघ को। मक्खी उनके नाक, कान, या मुँह पर बैठती तो चमक कर चौकन्ने हो व्याख्याता मुनिराज की तरफ या""की तरफ निहार लेते और बोल उठते 'जी, महाराज।' मानो सारे उपदेश को वे एकचित्त हो ऑख मूंद शान्ति से गले उतार रहे हों और वह उनकी नस-नस में पैठ गया हो। कभी-कभी नामी सुश्रावक को व्याख्याता महाराज खास तौर से संकेत कर या प्रसंग

में पूछते, 'धर्मदत्त ने कितना तप किया, या कितना दान दिया ?' ऊँघ से एकाएक अपने आपको जबरन मुक्त कर बड़बड़ा उठते अहा हा, मा' राज ! पुनवान् जीव ।

इस तरह व्याख्याताजी के अनर्गल प्रलाप और एकत्रित श्रावकों-श्राविकाओं, चेलों-चेलियों का ऊँघना-चौंकना, 'जी, महाराज' कहना 'घणी खमा' आदि का कोलाहल, शिशुओं और बच्चे-बच्चियों को कोलाहल करने पर झिड़कना, फटकारना चलता रहता । यह सब होता था धर्म के लिये और धर्म के नाम पर !

फिर आया 'मुंहपति पड़िलेहण' का समय, जो किसी सम्प्रदाय में होता और किसी में नहीं । परदे में या निर्परदा बैठी श्राविकाओं का कोलाहल और बच्चों का धूम-धड़ाका, श्रावकों का धीमा-धीमा वार्तालाप और सामायिक वालों का 'सूत्र अर्थ सांचो सरदूँ' या अन्य प्रकार के मंत्रों का नासिकोच्चारण सारी व्याख्यानशाला को कुंजड़ों का अड्डा बना डालता । (सु) श्रावक और (सु) श्राविकाएँ अपने-अपने समूह में आपस में चर्चा करने लगते—"अमुक व्यक्ति कभी मंदिर में पूजा पखाल नहीं करता, या कभी 'पूजजी' के या 'गुरुजी' के नहीं जाता, कलजुग में अधर्म बढ़ता जाता है—अधर्म ।" "अमुक छोकरों ने उस लखपति सेठ की शादी नहीं होने दी, सेठ ने इतने हजार या लाख रुपये लड़की के भाई को देकर खो भी दिये, इन छोकरों को सबक सिखाया जाना चाहिये ।" "अमुक विधवा कितनी तपस्या करती है ! दिन-रात साधु-साध्वियों का सत्संग करती है । सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध करती है, चौदह नियम का पालन, रात्रि-भोजन-त्याग सब कुछ कितना करती है ? बड़ी पुण्यवान् (?) है, और उम्र क्या है ? बिलकुल जवान है, जवान !" इत्यादि-इत्यादि । और यह चर्चा चलते-चलते और कोलाहल के बीच ही श्री साधु, गुरु या स्वामीजी महाराज अपने मुखकमल से बोल उठे "पचक्खाण करो, भाई, पचक्खाण ।" तब खड़े हो गये दो-चार चक्करदार, चोंचदार, नोंकदार, बलदार पगड़ी वाले और साफे वाले, गोल या किस्तीनुमा काली टोपी वाले

करने वाले साधु मुनिराज, पूजजी महाराज लोग और उनके चेलों का गुट, आर्य और आर्यिकाएँ, गुरु और गुरुणियाँ आदि अपने उन 'जीहुजूरियों' को अंधकार में टक्करें खाने देना पसन्द करते हैं। मुक्ति का मार्ग बतलाने की एवज इन्हें अपनी यशोलिप्सा की तृप्ति और निज की सेवा का साधन बना चक्कर में डाले रहते हैं। आफत का मारा कोई जिज्ञासु व्याख्यान में किसी विषय पर शंका कर उसका स्पष्टीकरण चाहे, तब देखिये उन व्याख्यान देनेवालों और उनके अंधभक्तों की उछल-कूद। "यह मिथ्यात्वी है," "इसे भगवान के वचनों में श्रद्धा नहीं," "गुरु महाराज जो कह रहे हैं और त्रिलोकी के नाथ जो कह गये हैं उसमें इसकी आस्था नहीं," "नई रोशनी के हैं—नई रोशनी के; कभी कुछ धर्म का अक्खर देखते नहीं और बहस करने को तैयार रहते हैं।" इत्यादि और गम्भीरता का दंभ करने वाले तथा अपने आपको क्षमा का अवतार समझने वाले सुश्रावक जिज्ञासुओं की इस छीछालेदर पर और उनकी जिज्ञासा का यह सुन्दर जवाब सुन मन-ही-मन प्रसन्न होते हुए अजीब स्वर में बोल उठते हैं, "घणी खमा महाराज, आप तो अपना बखाण चालू रखिये, धर्म के दो वचन कानों में पड़ने दीजिये। यह छठा 'आरा' है। धर्म का लोप होता जाता है।"

कैसा उपदेश?

●

हाँ तो, पच्चक्खाण का क्रिया-कांड कर घण्टा-आध घण्टा व्याख्यान फिर चालू रहता। आखिरी वक्त में फिर वही पौषध और प्रतिक्रमण, उपवास और तपस्या, चीटियों पर पाँव न रखने या भट्टियों में जीव न जलने देकर जीव-रक्षा का प्रयत्न करने, सब कुछ से निवृत्ति और अहिंसा की शिक्षा देनेवाले और अपरिग्रह को सुश्रावक के लिये अत्यन्त आवश्यक व्रत बताने वाले, जैन धर्म के मतानुसार प्यास से मरते हुए मानव या पशु-पक्षी को पानी की दो बूंदें न देना और पीड़ा से तड़पते हुए जीव का उपचार न करना सच्चा गृहस्थ-धर्म है, आदि का उपदेश व्याख्याता

मुनिराज अपने अंतिम वक्तव्य के रूप में कहते। बच्चे और बच्चियों को लेकर माताओं, बहनों और विधवाओं को धर्मशाला में या गृहस्थ के यह ठहरे हुए साधु-साध्वियों या गुरु-गुरुणियों या आर्य-आर्यिकाओं की सेवा में भेजते रहने का उपदेश दिया जाता। जहाँ सिद्धान्त की कोई चर्चा नहीं, व्यवहार-धर्म की कोई शिक्षा नहीं, सद्धर्म का कोई प्रसार नहीं, भगवान् महावीर और उनके सच्चे अनुयाइयों के सच्चे उपदेशों पर कोई विचार नहीं, उनके वाक्यों और उपदेशों की कोई समुचित व्याख्या नहीं, बल्कि जहाँ गप-शप होती, कलकत्ता, बम्बई के बाजारों के समाचार और बाजारों की रुख के बारे में बातें होती, घरों की निन्दा और गृहस्थ की घरेलू बातों पर चर्चा चलती रहती, यंत्र-चालित की भाँति प्रतिक्रमण, वन्दना आदि की क्रियाएँ अनियमित रूप से चलती रहतीं और साधु-साध्वी, आर्य-आर्यिका, गुरु-गुरुणी अपने-अपने गुट बनाते और अपनी-अपनी प्रतिष्ठा के विस्तार की स्कीमें उन गुटों द्वारा काम में लाने की तरकीबें सोचने में अधिक समय बिताते। और यह सब व्याख्यान और उपदेश, जमघट और व्रत-पच्चक्खाण, नई लाईट वालों की आलोचना और गृहस्थों की घरेलू बातों पर टीका-टिप्पणी विभिन्न विषयक चर्चादि होती धर्म के प्रसार के लिये और धर्म के नाम पर!

दंभ

०

व्याख्यान खत्म होते-न-होते नामी सुश्रावक कभी-कभी मिठाई या नारियल, खिलौने या और किसी पदार्थ की प्रभावना (!) करने को आ खड़े होते। यह साधर्मियों को दान देने की महत्ता के सिद्धान्त पर होता। और कभी कोई नामी सुश्रावक स्वयं या उसकी ओर से श्री व्याख्याता मुनिराज व्याख्यान खत्म होते-न-होते घोषणा करते कि आज वे जीव-दया पलाएँगे इसलिए जितने साधर्मी चाहें उसी जगह अल्पाहार करें, पौषध वाले और इस तरह चींटियों और चींटों, झींगरों और कसारियों और ऐसे

ही जमीन पर रेंगने वाले या चलने वाले और आकाश में उड़ने वाले या उछलने वाले अनन्त जीवों की रक्षा का पुण्य संचय कर मुक्ति का पट्टा आर्य या आर्यिकाजी या सतीजी से लिखवा ले जाएँ। और कभी कोई नामी सुश्रावक स्वयं अपनी टूटी-फूटी वाणी से या श्री व्याख्याता मुनिराज अपने सुरीले कंठ के ताल-सुर मय स्वर से कहते कि 'पूजजी' वहाँ विराजते हैं और उस दिन कितने ही चेले-चेली मूंड़े जाएँगे जिनकी उम्र आठ बरस से पंद्रह बरस तक की होगी—उनका धर्म के लिये पागल होना और संसार के माया-मोह को छोड़ कर साधुत्व या साध्वित्व (!) ग्रहण करना उनके परिणामों की कितनी उच्चता प्रकट करते हैं। और सब लोगों को उस महोत्सव में जाना चाहिये, क्योंकि वहाँ 'पूजजी महाराज' के दर्शन तो होंगे ही, साथ ही सात-सात, दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह वर्ष की सतियों और इतनी ही उम्र वाले चेलों की उछल-कूद, मानसिक शुद्धता, उनके उच्च परिणाम और विवेक को देख कर भी सुश्रावकों को शिक्षा मिलेगी। कभी कोई नामी सुश्रावक गुरु महाराज के सदुपदेश और उनकी निस्वार्थ निरभिप्राय शुद्ध सात्विक प्रेरणा के फलस्वरूप पंचतीर्थी और नरक-तीर्थी के लिये स्पेशल ट्रेन में संघ निकालने या पैदल यात्रा कराने की अपनी इच्छा बड़े विनयपूर्वक घोषित करता। कभी पाट महोत्सव, माघ महोत्सव, दीक्षा महोत्सव आदि पर या 'पूजजी' के विहार-काल में 'सेवा' के अवसर पर हजारों रुपये का खर्च करता। और ये सब घोषणाएँ, विचारों और इच्छाओं का विनम्र प्रकाशन, गुरु महाराजाओं का उनमें समर्थन होता चतुर्विध संघ (साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका) को मोक्ष के ठीक दरवाजे पर खड़ा कर देने के लिये, छठे 'आरे' में संसार के माया-जाल से मुक्त कर प्राणियों का आवागमन रोकने के लिए अर्थात् धर्म के प्रसार के लिये और धर्म के नाम पर।

निर्दयता

●

प्रभावना बाँटने वाले नामी, धनी, मानी सुश्रावक ने प्रभावना की चीज लाने के लिये जिन मजदूरों को बाजार से बुलाया था, उनकी मजदूरी देने में हुज्जत करते और पैसा-दो पैसा उसमें से जबरन काटते समय तमाम व्रत और धर्माचरण, उपदेश और सूत्र भूल जाते। जीव-दया का पालन कराने वाले और 'पूजजी' के पाट महोत्सव या उनके द्वारा रेवड़ के रेवड़ चेला-चेली मूंड़े जाने के अवसर पर सुश्रावकों को एकत्रित होकर धर्म की पोट बांध लेने का आग्रह करने वाले, स्पेशल ट्रेन में या पैदल संघ निकालने का लोभ देकर चतुर्विध संघ को विशेष महत्त्वपूर्ण बातों से हटा केवल क्रिया-कांड के रास्ते पर ले जाने की घोषणा करने वाले सुश्रावकगण और उनके खुशामदी साथी यह भूल जाते कि इस सबमें जितना पैसा वे खर्च कर रहे हैं, वह अधिकांश में ऐसा है, जो उन्होंने अधर्म और अत्याचार से, गरीबों के शोषण और मजदूरों के पेट को काट कर इकट्ठा किया है। उनके पास धर्मादे के नाम पर जो रुपये इकट्ठे होते रहते हैं यह उसी का एक अंश है और जिसे अपने नाम से खर्च कर अपनी क्षणिक नामवरी के साथ अत्यन्त गर्हित कुकर्म की गठरी वे लाद रहे हैं। उनकी अन्याय से इकट्ठी की गयी पूंजी को देख कर संघ ने जो मन्दिरों और धर्मशालाओं, सार्वजनिक संस्थाओं या पाठशालाओं का कोष उनके पास थाती के रूप में रख दिया था और अपने निजी कार्यों, व्यापारादि में काम में ला जिससे उन्होंने धनराशि को बढ़ाया या घटाया उसी थाती का यह धन भी अंश है, जिसे ईमानदारी से लौटा देना ही उनका धर्म है, न कि उसे खर्च कर अपनी नामवरी कराना। यह नाम की आकांक्षा और संसार को सुनहरे बाग दिखा अपने आपको धोखा देने की क्रिया की जाती धर्म के प्रसार के लिए और धर्म के नाम पर!

शोषण

●

और कुछ दिन रहने पर वहीं लोगों से मालूम हुआ कि वे सुश्रावक चौदह नियम का पालन करने वाले और बारह व्रतधारी होने तथा पाँचों तिथियों पर पौषध व्रतादि पालन का ढोंग करने वाले होने पर भी अनेक संस्थाओं और मन्दिरों तथा धर्मादे की रकमों को डकार जाने वाले हैं। मील-मजदूरों का खून चूसने और लोभ देकर पंचेन्द्रिय प्राणी—मानव—का गला काटने और अपनी इसी प्रकार की अनेक चतुराइयों से धन पैदा करने में वे कोई अधर्म नहीं समझते हैं। लेकिन तमाम गच्छों और तमाम सम्प्रदायों, तमाम धर्मध्वजियों और धर्म का फतवा देने वाले या देने वालियों तथा धर्म के ठेकेदारों या ठेकेदारिनों अर्थात् 'साधुत्व' का दम भरने वालों और भोले-भाले श्रावक-श्राविकाओं पर उनका असर था, क्योंकि धर्म के नाम पर जब उनकी ख्याति होती हो और उनका प्रभाव बढ़ने की सम्भावना तो हो वे थोड़ा बहुत पैसा खर्च कर देते थे।

घड़ी का इंतजार

●

और प्रश्न घूम-फिर कर यह आता है कि धर्म-प्रसार के लिए और धर्म के नाम पर यह सब जो होता देखा गया, देखा जा रहा है, साधुत्व का लोप और पाखण्ड का प्रचार जो दिन-ब-दिन बढ़ रहा है, चतुर्विध संघ के साधु, साध्वी,.श्रावक, श्राविका चारों अंग जो सड़ते-गलते चले जा रहे हैं उनको ठीक रास्ते पर कैसे लाया जाय? इनके गले-सड़े अंग-प्रत्यंगों में तेज नश्तर घुसाकर मवाद निकाल देने में कौनसी घड़ी का इन्तजार किया जाय?

'तरुण ओसवाल'
जुलाई, १९४०

चौमासा और पजूसण

प्रकृति ने पशुओं की चराई के लिए खास तौर से चार महीने बना दिये हैं। पशु-पक्षी आदि खाते-पीते तो बारह महीने ही हैं पर इन चार महीनों में हरे चारे की बहुलता और कंद-मूल-फलादि की प्रचुरता मूक पशुओं के सामने एक नई छुभावनी सृष्टि पैदा कर देती है, और आदमी—समझदारी, सभ्यता तथा दया, धैर्य, औदार्य आदि गुणों के पुंज आदमी—ने गिनीचुनी मात्रा में पशु को घास, रातब, पाला, खाखला, चावल की रोटी, खल, काकड़ा सब कुछ या एक-दो चीजें देकर चौबीस घंटे अपनी जंजीरों में जकड़े रखने की जो पद्धति चला दी है, उसमें थोड़ा ढीलापन मालूम देने लगता है और यह ढीलापन पशु को कभी-कभी खुले जंगल और घास के मैदान में ताजी घास आदि खा लेने का मौका दे देता है। इसी ओर संकेत करते हुए मैं कहता हूँ कि प्रकृति ने पशुओं की चराई के लिए खास तौर से चार महीने बना दिये हैं।

आदमी प्रकृति पर हावी होने और उससे दो कदम आगे रहने की कोशिश करता रहा है। ब्राह्मणों ने अपने चराई के १६ दिन बना डाले और जन-साधारण पर वह उल्लू की लकड़ी फेरी कि कनागत के १६ दिनों में, ब्राह्मण दिन में दो बार से लेकर दो सौ बार तक भोजन पाता रहे तो कर ले और वह भी बड़ी खुशामद और दक्षिणा के साथ।

वही दशा

चौमासे और पर्यूषण पर्व की मौलिक कल्पना चाहे जो रही हो, अहिंसा की दृष्टि से चाहे उसका कोई विशेष महत्त्व सैद्धान्तिक रूप से रहा हो, पर आज तो चतुर्विध संघ पजूसण जिस प्रकार मनाता है, उससे तो ऐसा कहना ज्यादा अच्छा लगता है कि जैनियों ने एक कदम आगे रख दिया। शरीर को चरने देने के साथ इन्होंने अपनी आत्मा को चरा लेने के लिए भी खास तौर से चौमासे के चार माह और उससे भी अधिक खास तौर से पजूसण के आठ दिन चुन लिये। गाँव वाले घास की पोट इन दिनों में जितनी बंध सके उतनी बांध कर कुछ पैसे कमा कर बचा लेना चाहते हैं और हमारा चतुर्विध संघ इन दिनों धर्म की पोट जितनी भारी हो सके उतनी भारी बाँध कर बाकी नौ महीने गुलछर्रे उड़ाने और एक-दूसरे का गला घोंटने और मनुष्यता को चूसते रहने का व्यापार चालू रखना चाहता है। जातीय पाठशालाएँ, कालेज और मदरसे 'आठ' दिन बंद रहते हैं, ताकि उपाश्रयों, गृहस्थों के घरों या स्थानकों में रहने वाले गुरु-गुरुणियों, साधु-साध्वियों, आचार्य-सतियों, 'पूजजी' और उनके चेले-चेलियों द्वारा कल्प-सूत्र के मंत्रोच्चारण और भगवान ऋषभ देव से लेकर भगवान महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों की जीवनी और उनके पूर्व भवों की गाथा का अशुद्ध भाषा और केवल दुहरा देने की भावना से जो पारायण होता है, उससे बालक-बूढ़े, नर-नारी सब फायदा उठा सकें। इन आठ दिनों में मिलें और कारखाने बंद नहीं होते, व्यापार और लेन-देन बंद नहीं होता, मरते हुए मजदूर और नौकर की गैरहाजरी की तनख्वाह काट लेने और अपने 'आसामी' से व्याज की पाई-पाई वसूल कर लेने में जिस बेदर्दी या बेरहमी को कार्य में लिया जाता रहा है उसमें कमी नहीं की जाती, यहाँ तक कि उस कमी को होता हुआ देखना तक बर्दाश्त नहीं होता। आफिस के क्लर्क और गद्दी के मुनीम-गुमास्तों से दिन के चौबीस घंटों में से अधिक-

से-अधिक घंटों तक काम लेते रहने की वृत्ति उन सेठों और पूंजीपतियों तक की नहीं बदलती, जो गद्दियों के कोनों में १-२-५-१०-१५ सामायिक करते रहते है, या जो दया पालते हैं; पौषध-प्रतिक्रमण की मूकक्रिया करते हैं; नामवरी और वाहवाही के लिये 'चौदह स्वप्नों की रजत या स्वर्ण की मूर्तियों, भगवान के पालने और ध्वजा, पताका, चामर आदि को बढ़-बढ़ कर खरीदने तथा मंदिरों में प्रक्षाल, पूजा अंगरचना आदि का 'सर्व-हक-स्व-आधीन' करने के लिए नीलाम की-सी बोलियाँ बढ़-बढ़कर बोलते हैं; जो चमचमाते अलङ्कारों और जवाहिरात जड़े कंठों और इत्र-सेंट से महकते चोलों, पेचों और दुपट्टों या शेरवानी और कोटों की सजधज के साथ सहधर्मियों को तुच्छ समझते मोटरों और टमटमों में बैठ कर, या पैदल चलते हों तो धर्म-साधना के लिए खरीदे हुए लोगों के झुंड के साथ गुरु महाराज, पूजजी महाराज, साधुजी महाराज, या महाराजनियों के पास भागे जाते हैं; कोई अधिक सामायिक करके, कोई फड़फड़ाती ढाल गाकर और कोई दया और धर्म-प्रचार के नाम पर मिठाई के दोनों, नारियलों, खिलौनों आदि की प्रभावना कर अपना सिक्का जमाना चाहते हैं।

यह 'पोट'

०

हाँ तो, हरे-भरे घास-पत्तों की गठरी या पोट जैसे बाँधी जाती है, वैसे हमारे चतुर्विध संघ के भाई-बहन भी धर्म की पोट चौमासे के एक सौ बीस दिन में बाँध लेना चाहते हैं और 'पजूसण' के आठ दिन मे तो गोदी के बच्चे से लेकर शिथिल अंग बूढ़े भी—स्त्री, पुरुष, बालक, बालिका आदि अपनी-अपनी पोट बाँध लेने को तैयार होते या ढकेले जाते हैं। मैं इसे पोट बाँध लेना इसलिये कहता हूँ कि जैसे फूस के छप्पर के नीचे, दालान, पशुशाला या मैदान में रखी घास-पत्तों की गठरी या पोट से पोटवाले या पोटवाली के मन में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता, उस पोट का उसके मालिक या मालकिन की मनोवृत्ति, उसकी आत्मा, उसके क्रिया-कलाप पर

कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसी तरह आधुनिक अविचारशील श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वीगण के लिये यह धर्म की पोट एक 'पोट' मात्र ही है जिसके कारण उनकी मनोवृत्ति पर कोई असर नहीं पड़ता, उनकी आत्मा में कोई शुद्धि नहीं आती, उनके जीवन की धारा किसी खास अच्छी दशा में प्रवाहित नहीं होने लगती। उनके शरीर की इन्द्रियों की क्रिया और उनकी आत्माएँ उस कथित धर्म की 'पोट' से ऐसे ही अप्रभावित रहती हैं, जैसे घास-पत्तों की पोट से उसके मालिक की भावनाएँ।

प्राकृतिक स्थिति

•

आषाढ़ शुक्ला १४ से चौमासा आरंभ होता है, चाहे ऋतु-जनित और प्राकृतिक परिवर्तन के अनुसार वर्षा का आरंभ हुआ हो या न हुआ हो। वर्षा ऋतु में जीवों की उत्पत्ति अत्यधिक होती है। जल के कारण कीट-कीटाणु, मच्छर-पतंगे, वनस्पतिकायिक जीव आदि अगणित रूप और संख्या में उत्पन्न हो अपनी छोटी जीवनी शुरू करते हैं। चतुर्विध संघ का अंग, अहिंसक, दया-धर्म का पुजारी तथा कर्म-सिद्धान्त का पाठ सुनने वाला जैन स्थूल और सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा से अपने आप को भरसक बचाने के लिये इस दिन से प्रयत्नशील होता हुआ दिखाई देता है। पर श्रावक-श्राविकादि, साधु-साध्वी-गण इसके लिए प्रयत्न करते ही दिखाई देते हैं; उनके बाह्य क्रिया-कलाप, उनकी दिनचर्या और ऊपरी रहन-सहन में भले ही कुछ परिवर्तन—अवांछित परिवर्तन—का आभास मिलता हो; उनकी मनोवृत्तियाँ वैसे ही दूषित और कालुष्यमयी रहती हैं, उनकी आत्मा और भावनाओं का घोड़ा वैसे ही बे-लगाम दौड़ता रहता है। वर्षा का वेग आषाढ़ कृष्णा १३ से प्रारंभ होकर भाद्रपद शुक्ल १५ को ही समाप्त हो जाता है, लेकिन साधु-साध्वी वर्ग आषाढ़ शुक्ला १४ से कार्त्तिक शुक्ला १३ तक किसी शहर में जहाँ श्रावक-श्राविकादि का—भक्तजनों का—जमघट हो, अपना डेरा डाले रहेंगे। चातुर्मास के चार माह को

छोड़ कर बाकी आठ माह के विहार में भी पता नहीं—स्थान-स्थान की भक्त-मण्डली को छोड़ कर कितने से व्यक्तियों तक हमारा साधु-समाज दया और अहिंसा, सत्य और समभाव, परिग्रह-त्याग और विकार-दमन, आत्म-कल्याण और मुक्ति-मार्ग का उपदेश और भगवान महावीर का संदेश पहुँचाता है ? देश, काल, भाव के प्रति उपेक्षा चलती रहती है तथा उपदेश तथा धार्मिक क्रिया-कलाप में वही पुराना ढर्रा और कालजनित विकारपूर्ण ढंग बना रहता है। परिस्थितियाँ बदल गयी, संस्कृति क्या-से-क्या बन गयी, जैन समाज लुढ़कते-लुढ़कते चिन्तामयी स्थिति में पहुँच गया, पर धर्म को कायम रखने ज्ञान के प्रसार और मुक्ति-मार्ग के नेतृत्व की जिनसे आशा की जाती है और जिन पर इस सबकी अधिक-से-अधिक जिम्मेदारी है, वे आचार्य और गुरु, साधु-साध्वी और आर्य-आर्यिका फिसलते-फिसलते दूसरे रास्ते चले जा रहे हैं। आषाढ़ शुक्ला १४ के पन्द्रह दिन पूर्व से वर्षा आरंभ हो गई तथा जीवाति-जीव की उत्पत्ति हो गई तब भी आषाढ़ शुक्ला १३ तक हमारा साधु-साध्वी वर्ग शहर के इर्द-गिर्द के बगीचों, जैन-मन्दिरों या धर्मशालाओं तक विहार करेगा। और वह विहार नित्य प्रति की भाँति होगा उसी ओर, और उसका अंत होगा उसी स्थान पर जिधर या जहाँ उनकी भक्त-मंडली मौजूद है या पहुँच सकती है, न कि उन बस्तियों, देहातों या टूटे-फूटे घरों में जहाँ मानवता सिसक रही है, जहाँ प्रकृति के अप्रत्याशित कोप ने या कथित सभ्य और सुसंस्कृत समाज के जकड़ने वाले पन्जों ने निर्बल और निर्धन, शोषित और पीड़ित मानव-रूप प्राणियों के धैर्य को जड़ से हिला दिया है, जहाँ कर्म-तत्परता, आपत्ति में भी धर्म पर दृढ़ रहने, और दया तथा अहिंसामय जीवन के पाठ की अधिक-से-अधिक जरूरत है। नहीं होगा हमारे साधु-समाज का विहार उस ओर जहाँ काली और धुँधुली कोठरियों में, बड़े-बड़े और गंदे बैरकों में दुबली-पतली स्त्रियों, काले पड़े पुरुषों और हड्डियों का ढाँचा मात्र शेष रह गया है ऐसे बालकंकालों, का जीवन-रथ शराब की दो घूंट और अफीम की एक घूँटी, तमाखू के कश और भूखे पेट

मर जाने की साध के आधार पर चल रहा है; या उस ओर जहाँ स्वच्छ और साफ लम्बे-लम्बे दालानों तक बिजली के पंखों द्वारा शुद्ध की जा रही हवा से भरे क्वार्टर्स और केम्पों में कथित सिपाहियाना जीवन बितानेवाले काले या गोरे फौजी आदमी और उनके ऊँची-ऊँची (इतनी ऊँची कि जिससे हजारों भारतीयों का रोटी का सवाल हल हो सकता है।) तनख्वाहें पानेवाले कमाण्डर गण रहते हैं जिन्हें अहिंसा और करुणा, संयम और विवेक के पाठ की सबसे अधिक जरूरत है। चातुर्मास निश्चित करने में एक सम्प्रदाय के साधु दूसरी सम्प्रदाय के साधुओं के साथ मोर्चाबन्दी करने का खयाल सबसे ज्यादा रखते हैं। अमुक स्थान पर यदि एक तेरापंथी साधु है, तो स्थानकवासी साधु भी वहाँ उसी कोटि का पहुँचना जरूरी है और उसको भेजने की चेष्टा होती है। वैसे ही यदि वहाँ एक थानकवासी साधु है तो तेरापंथी 'पूजजी' वहाँ ऐसे ही साधु को भेजेंगे, जो उस स्थानकवासी साधु या संवेगी साधु की टक्कर का हो। जब वाग्प्रहारों का युद्ध हो तो कहीं मात न खा जाय। और यही हाल है संवेगी साधुओं का। उन्हें भी मोर्चाबन्दी की पूरी सजधज की जरूरत होती है। यह है चौमासे का धर्माराधन। गुरु-गुरुणियों, साधु-साध्वियों, आर्य-आर्यिकाओं, स्वामी-सतियों, यति-यतिनियों, उपाध्याय-श्रावकों आदि के उपदेशामृत की धारा बहेगी उसी चहार-दीवारी में जहाँ अंध-भक्त जैन समाज के कुछ व्यक्ति इकट्ठे हो जाते हैं; और इस उपदेशामृत की धारा चलायी जायेगी उसी विकृत शैली पर और साम्प्रदायिकता के विष के मिश्रण के साथ जो न उपदेशकों को ऊँचा उठाती है और न श्रोताओं को; न साधु-साध्वी वर्ग को सच्चे सन्मार्ग पर ले जाती है और न श्रावक-श्राविका वर्ग को; जो न एक व्यक्ति या एक समाज का कल्याण करती है और न प्राणीमात्र का; जिसमें व्यावहारिकता भी नहीं और आदर्श की उच्चता भी नहीं। 'चौमासे' में इसी धारा के वेग को बढ़ा दिया जाता है, जब कि धर्म का दान मुक्त हस्त से अधिक मात्रा में होने लगता और धर्म की 'पोट' बाँधने का अवसर मिलता है। और 'पजूषण' में तो इस वेग का अंदाज ही नहीं

लगेगा। धर्म के ओलों की तड़ातड़ और धड़ाधड़ वर्षा होती है और उसकी 'पोटें' जितनी हो सकें उतनी भर कर रखी जाने लगती हैं। वर्ष के बारह महीनों और तीन सौ साठ दिनों में किये गये कुकर्म और पापों के लिये यदि दैनिक या पाक्षिक, मासिक या चौमासिक प्रतिक्रमण में या किसी भी दिन क्षमा न माँगी हो तो संवत्सरी के दिन उन सबसे बरी हो जाते हैं। जैसे दीपमालिका को या वर्ष भर के किसी एक दिन व्यापारियों का आपस का लेन-देन का खाता बराबर (सिर्फ बहियों में) किया जाता है, वैसे ही संवत्सरी के प्रतिक्रमण के समय 'खमत खामणा' से पापों और कुकर्मों जमा-खर्च चुकता कर दिया जाता है और फिर नया खाता चालू होता है। मन, वचन और कर्म में कोई शुद्धि नहीं, आहार-व्यवहार और रोजमर्रा के जीवन में कोई शुभ परिवर्तन नहीं; चित्त में वही साम्प्रदायिकता और स्वार्थ का विष खौलता रहता है, क्रिया में वही दंभ और रूढ़िवादिता भरी है, क्षमामाँगने और क्षमा करने अर्थात् 'खमत-खामणे' की पद्धति में जो पूत भावना और कल्याणकारी आदर्श है उसका ज्ञान तक नहीं, उसके अनुरूप रंच मात्र भी क्रिया-प्रक्रिया नहीं, फिर भी संघ का एक भाग सब कुछ मशीन की भाँति करता है और केवल ढोंग भरी इस क्रिया के कारण दूसरों की दृष्टि में ही अपने आपको उपहासास्पद और गर्हित नहीं प्रमाणित करता, बल्कि अपनी आत्मा को धोखा देकर मानवता से गिरता जाता है।

त्याग-तप

चौमासा शुरू होता है और शरीर को तप—दिखाऊ तप—की अग्नि में सुखाने की क्रिया रूप घास एकाएक फूट निकलती है। एकासन, उपवास, बेला, तेला, चौला, पचौला, अठौला या अठाई दनादन होने लगते हैं और इन क्रियाओं के लिये उपदेश मिलता है, प्रेरणा मिलती है, दबाया जाता है, बगैर समझे भी इन्हें ज्यों-का-त्यों मान लेने के लिये कहा जाता है हमारे कर्णधारों और धर्म-गुरुओं द्वारा। मन, वचन और कर्म को काबू में रखने

के लिये शरीर और इन्द्रियों को पहिले काबू कर लेने की नीति के अनुसार जिस तपश्चर्या की आवश्यकता बतलायी गयी है। उस नीति का पालन होता हो अथवा नहीं, व्रतोपवास से इन्द्रियों को संयम की आदत पड़ती हो अथवा नहीं, शरीर को काबू में रखना सीखा जाता हो अथवा नहीं—व्रतोपवास किया जाता है, इसलिए किया जाना चाहिये। व्रत की धारणा करना, उसका संयम और विवेक से पालन करना और फिर उसे शांति और बिना अकुलाहट के पूरा उतार देना कौन जानता है और कौन सिखलाता है? 'धारणा' और 'पारणा' का मतलब समझा जाता है अच्छी-अच्छी स्वादिष्ट खाद्य सामग्री और पेय पदार्थ से पेट को भरना और रसनेन्द्रिय को अनर्गल काम करते रहने की छूट देना। चार वर्ष का बालक और तीन वर्ष की बालिका उपवास करेंगे—उन्हें उपवास करना होगा—इसलिये उनके माता-पिता, बन्धु-बांधव रात को कई बार कहेंगे, 'कुछ और खाले—कुछ और खाले' और दूसरे दिन उपाश्रय या स्थानक में या अन्यत्र गुरु महाराज के सम्मुख वे अबोध बालक जब उपवास का 'पच्चक्खाण' लेने को हाथ जोड़ कर खड़े होंगे या खड़े किये जायेंगे, तब सुनिये गुरु महाराज द्वारा उनके माता-पिता की प्रशंसा और उन बच्चों की तारीफ—"कैसे पुण्यवान जीव हैं" "कैसे उत्तम संस्कार डाले जा रहे हैं।" इतना ही क्यों समाज में चन्द्रकला और पेड़े बाँटे जाते हैं इस उपवास के उपलक्ष्य में। देखिये यह त्याग और तपस्या की धर्म-साधना, और इस तरह अबोध बालक और बालिकाएँ, अंध-श्रद्धालु श्रावक और श्राविकाएँ चढ़ा दी जाती हैं धर्म की सूली पर और उनको प्रोत्साहित किया जाता है इन ढोंग भरे आचरणों और दिखाऊ प्रक्रियाओं के लिए जिनसे न वास्तविक धर्म का प्रसार हुआ है, न किसी व्यक्ति, जाति या राष्ट्र का कल्याण हुआ है, न भगवान महावीर और न उनके सच्चे अनुयाइयों का आदर या मान बढ़ा है। व्रत और उपवास के 'पच्चक्खाण' करा देने के अतिरिक्त उनके पालन और उनके उपयोग तथा उनकी आवश्यकता की कोई चर्चा नहीं, उस सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं करायी

जाती। इन्द्रियों को काबू में रखने और शरीर-संयम और नियमितता तथा कठोरतम कष्ट की सहनशीलता सिखलाने के सम्बन्ध में कोई उपदेश नहीं। 'पारणे' और 'धारणे' के दिन ठूँस ठूँस कर खा लीजिए। मन्दिर में भगवान् की मूर्ति के आगे चढ़ाकर या साधु, गुरु, मुनिराज, स्वामी आदि के पात्रों में डालकर भाँति भाँति के मिष्ठान्न पक्वान्न बनाने की क्रिया में जो 'पाप-बंधन' हुआ है उससे मुक्त हो जाइये; बाकी भक्ति 'पारणे' और 'धारणे' के बीच की अवधि में व्रत कर लेने से और बिना सोचे या समझे हुए प्राकृत की गाथाओं को शुद्धाशुद्ध दुहरा देने से हो जायगी ! और व्रतउपवास की अवधि में होता क्या है ? ज्ञान-तिथि हो या अन्य कोई तिथि, उपवास, बेला, तेला आदि-आदि का व्रत लेने वाले या लेने वालियाँ धर्म के सिद्धान्तों का मननपूर्वक श्रवण नहीं करतीं, अपने ज्ञान को विकसित करने का कोई प्रयत्न नहीं करतीं, मन, वचन या काया की शुद्धि के लिए तनिक प्रयास नहीं करतीं। स्त्रियों और पुरुषों का सामाजिक जीवन बुद्धि की अत्यधिक अपरिपक्वता और ज्ञानाभाव के कारण विषमय, अनाचारमय और अपर समाजों की दृष्टि में उपहासास्पद बनता जाता है; बालक और बालिकाएँ समुचित शिक्षा के साधनों के अभाव के कारण समाज के लिये भार बनते जाते हैं। फिर भी विचारशील नवयुवक और नवयुवतियों द्वारा की गयी सामाजिक विषमता, धार्मिक पोपलीला और मन्दिर, स्थानक, उपाश्रय के आडम्बर की आलोचना को मिथ्यात्व और अधार्मिकता का फतवा दिया जाता है और सुधार की उस लहर को जबरन ढकेला जा रहा है, जो अधिक अवरोध सहने को तैयार नहीं है और जिसके अवरोध का परिणाम होगा बांध का टूट जाना और हद दर्जे की सामाजिक क्रान्ति। संसार के माया-मोह से दूर रहने और व्रतोपवास, पौषध-प्रतिक्रमण, पूजा-प्रतिष्ठा आदि में संलग्न हो धर्म-परायण होने का उपदेश तो 'वखाण' में दिया जाता है, पर मन्दिर, उपाश्रय, स्थानक आदि में लटक रहे झाड़-फानूस; चौमासे में खास तौर पर वेश्याओं के कमरों और ग्राहकों को फँसानेवाले दुकानदारों की लम्बी चौड़ी दुकानों की भाँति देवालयों की सजधज;

स्थानकों, उपाश्रयों, पूजजी के चौमासे के लिए निश्चित किये 'नोहरों' या 'मकानों' को सजाने के लिए इकट्ठी की गई झंडियों और इतर सामग्री के बारे में धर्म-गुरु-गण कुछ नहीं कहते और न कहने का कारण बतलाया जाता है यह कि साधु तो इन सबसे परे रहता है—न इन वस्तुओं से उसका मोह है और न इनसे कोई घृणा। धर्म गुरु 'व्याख्याताजी' के ठीक पट्ट पर बढ़िया मखमल और जरदोजी के चंदोवे लटकते हैं, स्थापना के लिये शीशम की लकड़ी, झीने रेशमी कपड़े और गोटे-गोखरू-किनारी आदि का उपयोग होता है, नाम-स्मरण या नवकार-मंत्र के जाप के लिए माला होती है तो वह सोने, चांदी या चन्दन के मनकों की, सामायिक-प्रतिक्रिमण के लिए आसन हो तो वह बढ़िया ऊन का कालीन सा, मंदिरों में दर्शन के लिये संघ जाये तो पुरुष रंग-बिरंगे बढ़िया कपड़े पहन कर—कंठे, कड़े, अंगूठी, बढ़िया बेंत या छाता लेकर सोने की घड़ी-चेन के साथ; स्त्रियाँ तितलियाँ-सी बनी, आभूषणों से लदी और ज्ञान, दर्शन, चरित्र, धर्म-तत्त्व आदि को जन्म से न समझने-बूझने की इच्छा रखने वाली। पर्यूषण-पर्व में महावीर स्वामी के जन्म के दिन त्रिशला माता के चौदह स्वप्नों की रजत मूर्तियाँ और सद्य-जात महावीर के लिए बनाये गये रजत-स्वर्ण के झूलने को धर्म-गुरु व्याख्या-ताजी के चरणों तक ले जाने का हक किसका हो? इसके लिए नीलाम की-सी बोलियाँ बोली जायेंगी और श्रद्धा-भक्ति हो या न हो, धर्माचरण करने वाला हो या न हो, जिसके जेब में पैसा है, जिसके पास पूँजी है वह नामवरी के लिए या समाज में फैली हुई अपनी बुराई को धो डालने और प्रतिष्ठा की नजर से देखे जाने की लालसा से उस अधिकार को पैसे के बल पर खरीदेगा, ठीक वैसे ही जैसे कि मन्दिरों में भगवान् की मूर्तियों की पूजा के लिये वैसे तो किराये के ब्राह्मण रखे जाते हैं, लेकिन पर्व-विशेष के दिन उन्हीं भगवान् की प्रक्षाल, इत्र-लेपन, वर्क-चेपन, चन्दन-चर्चन आदि क्रियाओं का हक 'घी' की बोली बढ़-बढ़ कर बोलनेवाला पूंजीपति खरीद लेता है, चाहे इसी खरीददारी में भगवान् की पूजा कई घन्टों देर से हो तथा इस तरह देर हो जाने के कारण उस पूजा में अविवेकता और अधार्मिकता-

पूर्ण क्रिया करने तक की नौबत आ जाय। इससे भी अधिक जहाँ साधु-साध्वी, आर्य-आर्यिका, स्वामी-सती आदि रहते हैं और जहाँ उन्हें एकान्त जीवन बिताना चाहिए तथा अपना समय और शक्ति धर्म-प्रसार और तत्त्व चिन्तन में लगाना चाहिये वहीं श्रावक और श्राविका उनके कच्चे और बच्चे अर्थात् धर्म-गुरु-गुराणियों ही के भक्त और उनकी भक्तिनें दिन-रात बिता देती हैं, 'पारणे' और 'धारणे' की सामग्री वहीं मंगवा कर खायी जाती है और दिन भर का अधिक समय परनिन्दा और गपशप में बिताया जाता है और देखिए उस गपशप में स्वामियों और सतियों का डूबडूब कर रस लेना या कुछ समय मशीनवत् धार्मिक क्रिया करने में गुजार दिया जाता है तथा रात्रि का अधिक समय सोने में—पौषध लिए हुए विशेष आसनों पर सोने—में बिता दिया जाता है। भक्त और भक्तिनें मूर्ख और निरक्षर हैं, वे धार्मिक क्रियाओं को बेसमझी से करते हैं और मशीन की तरह करते हैं, अपने नौकरों और नौकरानियों द्वारा वाञ्छित भोजन-सामग्री, वस्त्रादि उपाश्रय या स्थानक में ही मंगवा कर आराम से गपशप करते रहते हैं और इस तरह साधारण स्थिति वालों के प्रति अन्याय करते हैं, धर्म-विरुद्ध आचरण करते हैं और अन्य समाजों और धर्मावलम्बियों में अपने धर्म और अपने समाज को ढोंगी, पूंजीपतियों का धर्म आदि कहला कर बदनाम करवाते हैं; इस सबकी ओर धर्म-गुरु—'चौमासे' और 'पजूसण' में धर्म का मुफ्त दान देने वाले और श्रावक-श्राविकादि को धर्म की 'पोटकी पोट' बांध ले जाने के लिये दबाने वाले या बहकाने वाले धर्म गुरु—कभी ध्यान नहीं देते, इनके धर्म-विरुद्ध होने के बारे में समाज को कभी सचेत नहीं करते; इन क्रियाओं से 'कर्म-बंधन' और भी अधिक मजबूत हो जायगा, इस सम्बन्ध में उपदेश देने का नाम तक नहीं लेते; कदाचित् ऐसा कुछ मानने को वे तैयार तक नहीं।

●

और प्रभावना ? यह चौमासे की पंचतिथियों और पर्यूषण की आठ तिथियों में अधिक विशेषता रखनेवाली वस्तु है। नारियल, खोपरा, कटोरी, पेड़ा, छुवारा, अन्य प्रकार की खाने की चीजों या धातु की वस्तुओं की प्रभावना भक्त और भक्तिनें करती हैं। यह किसलिये ? जो परिस्थितियों के नीचे दबा हुआ या दबी हुई श्रावक-श्राविका हैं उनके दिलों को जलाने के लिए ? जो इन सब क्रियाओं में पुण्य या धार्मिकता नहीं समझते उन्हें चिढ़ाने के लिए ? धर्म के लिए लोगों के मन को लुभाने के लिए ? धर्म भी कोई बाजारू सौदा या वेश्या का रूप है, जिसकी ओर आकर्षित करने के लिये सजावट और सफाई, टीप-टाप और विज्ञापनबाजी करने, लोभ दिखाने और जाल बिछाने की जरूरत है ? सद्धर्म का विस्तार करना है और धर्म की ओर लोगों के मन को आकर्षित करना है, उनके हृदय में जैनत्व और अहिंसा, सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र, दया-पालन, वीतराग भगवान और उनके वचनों के प्रति, उनकी श्रद्धा जगानी है तो अन्ध-भक्त और भक्तिनों के घर से 'गोचरी' लानेवाला साधु-समाज अपने उपाश्रय और स्थानक या ठहरने के निश्चित स्थान की चहार-दीवारियों से निकल कर वह सच्ची ताकत और लगन भरी प्रतिभा क्यों नहीं चमकाता, जो सच्चे धर्म को पहिचानने का दृष्टिकोण लोगों में पैदा कर सकती है, जो सामाजिक विषमता, युद्धों के आतंक, कलह-विग्रह, पापमय जीवन और अशान्ति के तूफान में छटपटाते मानव मात्र को कल्याण का ऐसा मार्ग दिखा सकती है, जो पूँजीपतियों के दाँव-पेचों को घृणा की दृष्टि से देखती है, जो आतंक फैलानेवाले और भय दिखलानेवालों की कोप-दृष्टि से तनिक भी भय नहीं खाती है, जो अन्ध-श्रद्धा और एक व्यक्ति या एक समाज की स्वार्थपूर्ण भावनाओं में बंधी नहीं रह सकती है और जो साम्प्रदायिकता, जातीयता आदि के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठकर सच्चे जैनत्व और

कर्मसिद्धान्त की ज्योति का आश्रय ले इनको संसार में अनुकरणीय और श्लाघ्य प्रमाणित कर सकती है।

पर इसके लिये पेड़े और छुवारे, नारियल और चंद्रकला, लड्डू और खिलौने की प्रभावना करनेवाले पूंजीपतियों और भक्ति के नाम पर धर्म-गुरुओं को खुशामद के फंदे में बाँध लेनेवाले श्रावक और श्राविकाओं को प्रचलित धर्माचरण न करने के लिये उपदेश देना होगा। दया-पालन और 'पूजजी' के पाट महोत्सव तथा स्वामीवत्सल और अठाई के 'पारणे' 'धारणे' के कथित धार्मिक अवसरों पर तथा विवाह, नुक्ता आदि सामाजिक रीति-रिवाजों पर किये जानेवाले पैसे के अनर्गल प्रयोग के विरुद्ध आवाज उठानी होगी। प्रभावना एक व्यक्ति क्यों करे? क्यों न वह सार्वजनिक फंड से हो, यदि उसकी जरूरत ही है? खाने-पीने की चीजों या नष्ट होनेवाली वस्तुओं की प्रभावना ही क्यों हो? मंदिरों में अंग-रचना और सजावट के लिये, अकलापूर्ण चित्रकारी और टीप-टाप के लिये धन संग्रह क्यों किया जाय और इस प्रकार होनेवाले धन के दुरुपयोग को क्यों न रोका जाय? जीर्णोद्धार के नाम पर सर्व-साधारण से पाई पाई कर इकट्ठे किये गये पैसे को ढोंगी पूँजीपति श्रावकों को क्यों दिया जाय जो मौके पर अपनी वाहवाही और कीर्ति के लिये, धर्मशाला बनवाने, स्वामीवत्सल करने या संघ निकालने में उस पैसे का स्वच्छंद उपयोग कर लेते हैं और समाज के आगे उसका जवाब तक देने से इन्कार कर देते हैं? 'प्रभावना' यदि की ही जाय, तो क्यों न सार्वजनिक फंड के पैसे से उन पुस्तकों, छोटे-छोटे ट्रेक्टों या पत्रिकाओं की हो जिनमें धार्मिक सिद्धान्त, धर्माचरण के लिये उपयोगी व्यावहारिक नियम आदि का उल्लेख और अहिंसा, जीव-दया, पौषध, प्रतिक्रमण आदि की विवेक-पूर्ण विवेचना हो और उनकी सर्वकालीन, सर्वदेशीय उपयोगिता, दलील और बुद्धिगम्य दृष्टांतों द्वारा, सरल और सुबोध भाषा में सिद्ध की गई हो? क्यों न मंदिरों के भंडारों में, स्थानक और उपाश्रय में या जीवदया और पाटमहोत्सव के निमित्त इकट्ठे किये गये अथवा एक पूँजीपति द्वारा

दिये गये धन का उपयोग अशिक्षित पुरुष और स्त्री समाज को शिक्षित बनाने, बालक और बालिकाओं को उपयोगी शिक्षा देने के समुचित साधन जुटाने, विद्वान और विदुषियों के ज्ञान-प्रसार और अध्ययन के लिये उच्च-कोटि के पुस्तक-पत्र-संग्रहालय बनाने आदि के लिये और साधु-साध्वी, गुरु-गुरुणी, स्वामी-सती, यति-यतिनी आदि में जो अज्ञानी और अशिक्षित समुदाय है, उन्हें सच्चे धर्म की सच्ची शिक्षा देने के लिये किया जाय।

व्रतोपवास

केवल तपश्चर्या और व्रतोपवास से मुक्ति का मार्ग मिल सकता है? जबरन अठाई करने के लिये प्रेरित किया गया या स्वेच्छा से मास-क्षमण या पक्षक्षमण या अठाई या चौला, पचौला, उपवास, एकासन करनेवाला व्यक्ति आत्मा के कल्याण और विचार के परिष्कारों का पथ पकड़ सकता है, जिस कल्याण और परिष्कार के फलस्वरूप ही केवलज्ञान या मोक्ष प्राप्त हो सकता है? मानस-शुद्धि और वचन-शुद्धि के लिये ज्ञान और अनुभव की शून्यता होते हुए, उनके लिये धर्म-गुरुओं या अन्य किसी द्वारा प्रेरणा न मिलते हुए, उनके लिये सरल और सुबोध साहित्य उपलब्ध न होने पर और उनके लिये समुचित वातावरण के अभाव में, क्या यह आशा करना अविचारपूर्ण और विवेकशून्य नहीं होगा कि काया को केवल तप से कृश करने और व्रतोपवास के शिकंजे में खींचने भर से आत्मा का कल्याण हो जायगा, और व्यक्ति को मोक्ष का मार्ग दिखलाई दे जायगा? विकारग्रस्त समाज की वह वधू जिसने काले अक्षर को भैंस बराबर समझा है, जिसे धर्म के नाम पर प्राचीन भाषा में लिखी हुई थोड़ी-बहुत धर्म-गाथाएँ मात्र या सामयिक-प्रतिक्रमणादि की पाटियाँ याद हैं, जिसे अपने खाली समय को बिताने के लिये गपशप या इधर-उधर के किस्से सुनने का या घर की बड़ी-बूढ़ियों की झिड़कियाँ सहने का ही सहारा है, जो बाध्य की जाने पर या 'पालकी' में गाजे-बाजे के साथ घुमाई जाने की लालसा से 'अठाई'

करती है और दिन-प्रति-दिन के सात उपवासों के फलस्वरूप कृश-शरीर-स्थित अस्वस्थ मानस की पीड़ा से छटपटा उठती है, और मन-ही-मन या आवेश में आकर 'मुझे मार ही डालोगे,' 'एक घूँट पानी, पानी' चिल्ला उठती है, मोक्ष की हकदारिन हो सकती है ? ऐसी तपस्याएँ और ऐसे व्रतोपवास क्या समझदार व्यक्तियों के दिलों में धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर सकते हैं ? क्या सांवत्सरिक, मासिक, पाक्षिक या दैनिक क्षमत-क्षामणा के मर्म को न समझने वाला व्यक्ति "खामेमि सव्व जीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे···" का पचीस बार भी बगैर समझे-बूझे उच्चारण कर देने मात्र से और अपने मन को राग-द्वेष, क्रोध-मान, माया-लोभ इन सबसे या इनमें से एक दो से भी छुड़ा सकने में असमर्थ होते हुए और छुड़ाने की जरूरत को न महसूस करते हुए भी अपने द्वारा जान या अजान, प्रमाद या सतर्क स्वेच्छा से किये गये अपराधों और पापों के कर्म-बंधन से मुक्त हो सकता है ? मुँह पर हर वक्त बड़ी या छोटी मुँहपत्ती बाँधनेवाला या न बाँधनेवाला जो गुरु या साधु, गुरुणी, सती या साध्वी वर्ग अपने हस्त-लिखित धर्मग्रन्थों को श्रावक द्वारा छुये जाने में पाप और मिथ्यात्त्व समझता है, चिट्ठी लिखने लिखाने में भी आचरण-हीनता समझता है, उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों और दिये गये उपदेशों के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई शंकाओं का स्पष्टीकरण शुद्ध जिज्ञासा-वृत्ति से चाहे जाने पर भी जो श्रावक और श्राविकादि को उनके प्रश्नों का समुचित उत्तर न दे और उनकी शंकाओं का शान्ति से समाधान न कर क्रोध और झुंझलाहट के वेग में बह जाता है और प्रश्न करनेवाले या शंका-समाधान करानेवाले जिज्ञासुओं को अपने अंध भक्त-भक्तिनों द्वारा लांछित होना बर्दाश्त करता है; जो अपने संकुचित साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को छोड़कर पूर्ण जैन-समाज और अखिल मानव-समाज के लिये कुछ कर सकने की न योग्यता रखता, न भावना, उस साधुवर्ग और उस धर्माचार्य-वर्ग से 'चौमासे' और 'पजूषण' के कथित पवित्र दिनों में कौनसे सद्धर्म-प्रसार, मन-वचन-कर्म-शुद्धि और प्राणी-मात्र के कल्याण की आशा की जा सकती है ?

परीक्षा

●

आज खास तौर से जैन धर्म के और साधारण तौर पर विश्व के सभी सच्चे धर्मों के आधारभूत अहिंसा सिद्धान्त के खरेपन की परीक्षा का समय है। जैन समाज के युवकों के भग्न हृदय जुड़ सकते हैं; धर्मगुरुओं को कर्तव्यच्युत होते देखकर और उनके दंभपूर्ण स्वार्थमय आचरण से ऊबकर जले हुए युवकों के हृदयों में पुनः शान्ति स्थापित हो सकती है; और चतुर्विध संघ की पतनशील गति को न देख सकने के कारण पीड़ित हुए इन युवकों के हृदय अब भी सुख का अनुभव कर सकते हैं यदि इस महासंकट और कठोर परीक्षाके समय धर्माचार्य और धर्म-गुरु, यति, साध्वी, यतिनी वर्ग कुछ भी पथ-प्रदर्शन करें या पथ-प्रदर्शन की तत्परता दिखाएँ अथवा कम-से-कम पथ-प्रदर्शन के लिये प्रयत्नशील जिज्ञासु-युवक समाज और अन्य मतावलंबी या अपने से भिन्न सम्प्रदाय के बन्धुओं को शक्ति भर सहायता देने की अपनी ओर की सक्रिय तत्परता और विचारसाहाय्य दिखला सकें। साधु-समाज से यह आशा करना या चाहना कोई ज्यादती या अनधिकार माँग नहीं, क्योंकि बहे हुए समाज को सहारा लगाने, गर्द में ढके हुए सिद्धान्त-रत्नों को चमकाकर समाज के हाथ में सौंप देने का काम उस साधु-समाज का ही है। इस पर भी यदि सच्चा साधुत्व नहीं जागृत होता है, तो जिसके दिल में जितनी साध और वेदना है उनके अनुसार वह अपना प्रयत्न जारी रखकर जितना कुछ परिष्कार, प्रकाश-वितरण और मार्गप्रदर्शन कर सकता है वह करेगा ही। पर्यूषण-पर्व के पवित्र दिनों और संवत्सरी जैसे पवित्रतम समझे जानेवाले दिवस के सामीप्य को अनुभव करते हुए चतुर्विध संघ को अनुभव करना चाहिये कि साधुत्व केवल बाह्य क्रिया-काण्ड अर्थात् पूजन-पाठ, व्रत-उपवास, पौषध-प्रतिक्रमण आदि के मशीनवत् करते रहने या कराते रहने में नहीं है, स्व-आत्म-कल्याण और व्यक्तिगत मुक्ति के निमित्त किये गये क्रिया-कलाप में भी नहीं है और नहीं है धर्म के नाम पर दया-

पाल्न-मन्दिर-उपाश्रय-स्थानक आदि की सजावट, बाजे-गाजे से अठाई 'पच-कवाने', स्वामी वत्सल, विन्दौरे और लोभ में फँसानेवाली प्रभावना वगैरह-वगैरह कामों में धन के अवांछित अपव्यय कराने में। साधुत्व तो साम्प्रदायिकता की संकुचित सीमा से बाहर निकलकर सद्धर्म और सद्ज्ञान का मुक्त हस्त से दान देता है, शान्त और संयमपूर्ण वाणी से जिज्ञासु की शंका निवारण करता है, धार्मिक सिद्धान्तों और क्रियाओं का व्यक्ति, समाज, राष्ट्र या विश्व-स्थित प्राणीमात्र के जीवन के प्रत्येक पहलू में प्रयुक्त होना सिखलाता है। स्वाध्याय और दिन-प्रति-दिन की घटनाओं के सूक्ष्म परीक्षण से प्राप्त अनुभव के आधार पर वस्त्र और भोजन की चिन्ता से मुक्त साधुत्व अपने ज्ञान का विकास कर दूसरों का पथ-प्रदर्शन करेगा, अपने मन, वचन, कर्म को अधिकाधिक संयमपूर्ण और दिव्य बनाकर दूसरों के कालुष्य को धोयेगा तथा "खामेमि सव्व जीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे, मित्ति मे सव्वभूएसु वैरं मज्झं न केणइ" को केवल दुहराने या दूसरों को दुहराने के लिये प्रेरित करने की ही भावना न रखेगा, बल्कि स्वयं उसे जीवन में ढालेगा और दूसरों के जीवन में इसकी पूत भावना भर देगा।

आह्वान

जमाने का तकाजा और परिस्थितियों का आह्वान है कि ऐसा साधुत्व सचेष्ट हो अपना काम शुरू करे; साम्प्रदायिकता और जातीयता, छोटे-बड़े नाम-गोत्र, रंग-रूप, जाति-विजाति-अपजाति के चक्र से मुक्त होकर चतुर्विध संघ का समभाव मय रूप निखरे और स्व-पर-कल्याण द्वारा विश्व को संकट से बचाने और बचते रहने का चिरंतन मार्ग ढूँढ़ निकाले।

'तरुण ओसवाल'

सितम्बर, १९४०

जैन समाज के लगभग सभी सम्प्रदायों में धर्म-संपादन के जो विधान प्रचलित हैं, उनमें मंदिरों में पूजा-प्रक्षाल करना; तरह-तरह की भेदोपभेदी पूजाएँ कराना; प्रभावना करना; जुलूस निकालना; स्वामिवात्सल्य करना उपाश्रयों, स्थानकों और धर्मशालाओं में जाकर गुरु-वंदना करना; वखाण सुनना; सामयिक-प्रतिक्रमण-पोषध आदि करना; एकासना आम्बिल, उपवासादि के पच्चक्खाण करना; रात्रि-भोजन के त्याग करना; हरे शाकादि के त्याग करना; 'गुरु धारणा' का व्रत लेना; साधु महाराजजी की सेवा का व्रत लेना; दया पालना और पलवाना आदि ही मुख्यतया आते हैं। मैं यहाँ तो थोड़ा "सेवा" के विधान के बारे में ही लिखूँगा।

सेवा का महत्त्व किस देश और किस धर्म में नहीं बताया है, संसार का कौन कवि है, जिसने सेवा की महिमा के गीत न रचे हों, कौन ऐसा महापुरुष हुआ है, जिसने सेवा के प्रांगण में ही अपना जीवन आहूत न कर दिया हो, पर यदि इन बातों को ध्यान में रखकर आप उस "सेवा" व्रत की परीक्षा करना चाहते हों, जिसके बारे में मैं लिख रहा हूँ, तो निश्चय ही आपको एक बड़ी निराशा होनेवाली है, क्योंकि मैं जिस "सेवा" के बारे में जिक्र कर रहा हूँ, वह उन गुरुओं और गुरुणियों की सेवा है, जो साक्षात् धर्मावतार बनकर आत्मकल्याण की अखण्ड ध्वजा आज भी फहरा रहे हैं। "सेवा" की जो अखंड साधना इन 'बापजी साहबों' के ठिकानों पर लगी रहती है, वह देखने और अनुभव करने की चीज है, मैं उसका लेखनी द्वारा

क्या वर्णन करूँ ? दुनिया में अगर आपको कुछ धर्म करना है, मोक्ष के लिए धर्मयान पर यदि अपनी सीट रिजर्व करानी है, सैकड़ों धनवानों के मुँह से वाहवाही लेनी है, बिना परिश्रम किये हुए खाने-पहनने की मौज उड़ानी है, सैंकड़ों भाइयों और बाइयों की दृष्टि आकर्षित करनी है, और मजे की बातें करते हुए अपना समय बिता देने की इच्छा है, तो मैं आपको राय दूँगा कि आप अपने आपको इन 'स्वामियों' और 'सतियों' की सेवा में लगाये रखिये; निरंतर उनकी सेवा में बैठे रहने से आपके कर्म, वृक्ष के पुराने जीर्ण पत्तों की तरह झड़ते जायेंगे। और एक दिन धर्म का हवाई जहाज जब आपको इस संसार के अनन्त परिभ्रमण के बंधनों से मुक्त कर रात-दिन कर्म में व्यस्त रहनेवाले हम जैसे ओछे 'पुण्य' वाले लोगों को इसी सड़ती-गलती पृथ्वी पर छोड़कर मोक्ष की अमरपुरी में ले जाने को उड़ेगा, तब आप देखेंगे अपनी वर्षों की साधना का महान् फल और हम जैसों को इस तरह की आलोचना करने के कारण होनेवाली निराशा।

बड़ी कठिन!!

परन्तु मैं आपको बता दूँ कि इस सेवा का मार्ग कठिन बहुत है, देश-सेवा, और समाज-सेवा से भी कठिन। इस व्रत के पालन के समय आपको संसार के अनेक पचड़ों से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना होगा। महाराज की सेवा करना मामूली खिलवाड़ नहीं है। क्या आपने नहीं सुना है—'राजा, जोगी, अगन, जल, इनकी उल्टी रीति'। सबसे पहले आपको यह 'धारणा' अंगीकार करनी होगी कि उन महाराज की सेवा ही सबसे बड़ी सेवा है और इसके लिये आपको सौगन्ध करना होगा; महाराज की सेवा में बैठकर उनकी बातों को, स्तवनों को और ढ़ालों को ध्यान से सुनना होगा; बीच-बीच में 'घणीखमा' और 'सतमाखा' से उनके वचनों के प्रति सम्मान प्रदर्शन करना होगा; उनकी जँमाई और डकार पर भी 'खमा खमा' के नारे लगाने होंगे और किसी काम में चित्त लगाने से सेवा में बाधा पड़ेगी,

इसलिए आसपास कहीं कोई तरस रहा हो, पीड़ा से कराह रहा हो, जल रहा हो अथवा पिट रहा हो कि मर रहा हो, तो भी अपने को उस सबसे उदासीन रखना होगा, क्योंकि अगर उठकर चले जाओगे तो सेवा में घाटा होगा और पाप पल्ले पड़ेगा। हो सकता है कि उससे अगर महाराज नाराज हो जायँ तो आपको फिर सेवा का मौका ही न दें। इतना अगर आप करें तो मैं गारंटी करता हूँ कि 'बापजी' के भीतर विराजमान हुए भगवान् अवश्य प्रसन्न हो जाएँगे और आपको निर्वाण के मुक्त द्वार का ऐसा परवाना लिख देंगे कि जिससे आपके सारे पाप झड़कर आत्मा शुद्ध हो जायगी और निर्वाण का परमानन्द प्राप्त करने में कोई भी बाधा न हो सकेगी।

किन्तु सरल भी!!

●

धर्म के वैज्ञानिक अनुसंधान के बाद इन्होंने सारी सेवा को एक जगह केन्द्रीभूत करने का ऐसा सरल तरीका निकाल लिया है कि अगर विवेक की आँखों पर जरा-सी पट्टी बाँध लेने की हिम्मत हो जाय तो एक ही स्थान पर ऐसा फल मिलता है कि घर, परिवार और समाज—सबमें उसको अत्यन्त सुख और आदर मिलने लगता है। इतने बड़े प्रलोभन के होते हुए भी शायद कोई ऊपर बताई हुई कठिनाइयों से घबरा जाय, इसलिए मैं अब इस मार्ग की सरलताओं का भी विवेचन कर दूँ, ताकि इस मार्ग के पथिकों को कोई कठिनाई न रहे। सरलता तो सभी बात की है। न खान-पान में कमी करनी है, न पहनने-ओढ़ने में कोई कठिनाई भुगतनी है, न शरीर और दिमाग को कोई परिश्रम देना है, न कहीं इधर-उधर भटकते फिरना है, और न किसी तरह के त्याग की आवश्यकता है। लिलो-त्तरी न खाने के पच्चक्खाण और सामायिक के व्रतादि तो जैन धर्म का बाना ही है। ये कोई गांधीजी के सेवा-आश्रम थोड़े ही हैं कि मोटा पहनना पड़ेगा, मोटा खाना पड़ेगा, हर तरह का शारीरिक और मानसिक परिश्रम

करना पड़ेगा, हर काम अपने हाथ से करना होगा, छोटा-से-छोटा काम भी हाथ से करना होगा। जितना समय बचेगा उसमें चरखा कातना होगा, अछूतों में जाकर शिक्षा-प्रचार आदि का काम करना होगा, गाँवों में सफाई करनी होगी, निरक्षरों में अशिक्षा मिटाने के लिए समय देना होगा, अपने लिए एक-न-एक कार्यक्रम बनाना होगा, हर क्षण का हिसाब रखना होगा। वहाँ बैठकर गप-शप हाँकने में सेवा का व्रत पालन नहीं होगा। गांधीजी रात-दिन उन्हें उपदेश देने और अपने पास बैठाये रखने या पैर दबाते रहने में व्यस्त नहीं रखते। अकर्मण्य और आलसी लोगों के लिए गांधीजी के सेवाश्रमों में जगह नहीं है।

हर घड़ी

●

हमारे ये गुरु अपने सेवकों को इतना कष्ट नहीं देते। वे तो यह चाहते हैं कि एक तो उनके सिवाय और किसीकी वे उसी भाव से सेवा न करें और दूसरे यह कि बराबर उनके दर्शनों और "सेवा" के लिए आते रहें। और ये खुद आत्मकल्याण में इतने लीन हो गये हैं कि एक घड़ी भी इन्हें भाइयों और बाइयों की सेवा के बिना चैन नहीं पड़ता। बखाण में देखो तो, उसके पहले और बाद में देखो तो, दोपहर में और रात को देखो तो; यहाँ तक की 'पंचमी' जाने के समय भी सेवा का लाभ लेनेवाले भाइयों का एक समूह साथ रहता ही है। महाराज गोचरी पूरी करके बाहर निकलें नहीं, इसके पहले तो बड़े-बड़े परिवारों की गृह-रानियाँ टहलते वक्त की सेवा का लाभ लेने को आकर खड़ी हो जाती हैं। महाराज जब 'पंचमी' जाते हैं, तो भक्तों का समूह जोर-जोर से उनकी विरदावली गाते हुए चलता है, जिससे 'लाइन क्लियर' होती जाती है, रास्ते के सारे जीव सावधान हो जाते हैं कि धर्म-प्राण आ रहे हैं। आसपास के मकानों में रहनेवाले लोग जाग उठते हैं और मार्ग में पड़े हुए गाय, बैल, कुत्ता, बिल्ली आदि इस विरदावली के उच्च स्वर से चमक-चमककर भागते हैं।

रास्ते की सेवा

और 'रास्ते की सेवा' के माहात्म्य की तो बात ही क्या ? जो पुण्यशाली इस सेवा का लाभ ले सकें, उनके लिए परलोक की बात तो क्या, यह लोक भी स्वर्ग के समान आनन्दप्रद हो जाता है। जब महाराज एक गाँव से दूसरे गाँव का विहार करते हैं तो उनके साथ रहकर मार्ग में उनकी सेवा का महान् लाभ लेने का सौभाग्य कई भाइयों और ज्यादातर तो बाइयों को मिलता है। विधवा बाइयाँ तो जहाँ तक हो सकता है, भूल-चूककर भी इस 'रास्ते की सेवा' के मौके को नहीं छोड़तीं। रास्ते में हर जगह ओसवालों अथवा दूसरे बनियों के घर नहीं मिलते, तब महाराज श्री को "सूत्ता" भोजन कैसे मिले ? और बड़े-बड़े गाँवों में श्रद्धालु भक्तों की कृपा से जिस तरह के भोजन की आदत हो जाती है, वैसा भोजन भी हर जगह नहीं मिल सकता। दूसरे लोग घड़ों 'पाका' पानी करके भी क्यों रखें ? ऐसी कठिनाई के अवसर पर जो सेवा की जा सके, वह कैसे नहीं अधिक लाभदायी समझी जाय !

यही कारण है कि ये बाइयाँ अपने घरवालों को नाराज करके भी महाराज के साथ तो जाती ही हैं : अपने साथ खाने-पीने की अच्छी-अच्छी वस्तुओं का बड़ा ढेर-सा ले जाती हैं। रास्ते में 'महाराजों' के आहारपानी का सारा बोझ उन्हींके सिर पर रहता है; या यों कहिये कि उनकी सेवा की साधना सफल होती है, क्योंकि रास्ते की सेवा का महान् पुण्य तो यही है कि उसमें साधु-साध्वी को नित्य गोचरी बहराने का अनन्त लाभ मिलता है, कारण वहाँ तो रोज क्षेत्र बदलता जाता है, चाहे घर न बदले। एक बाई अपने लिये एक-दो मटकी से कम पानी पाका नहीं करती, क्योंकि महाराज को भी तो बहराना होता है। बाकी, करती है वह अपने नाम से, इसलिए महाराज को उसका कोई दोष नहीं लगता। रास्ते की सेवा में मुझे बहुत ज्यादा रहने का मौका नहीं मिला, इसलिए और वहाँ क्या-क्या सेवाएँ होती हैं,

इसका मुझे मालूम नहीं है। किसी भाई को मालूम हो तो उसे लिखकर छपाना चाहिए, जिससे और लोगों को भी इस महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर अग्रसर होने का उत्साह हो।

दुर्लभ पुण्य

दर्शनों की भूख मिटाने और सेवा का दुर्लभ पुण्य लूटने के लिए श्रावक-श्राविकाओं का ताँता बँधा रहता है उस स्थान पर, जहाँ "परम पूज्य परमेश्वर, ऋषिराज ऋषेश्वर, तीर्थनाथ तीर्थेश्वर, विमल ज्ञानाधार, स्वयम्भू सम गम्भीर, निर्लेप जिम कमल, वरण शिव अमल, आशापूर्ण कल्प" आदि अनेक उपाधियों से सुशोभित महान् विभूति विराजती हैं। सैकड़ों-हजारों कोसों पर काम करते हुए गरीबों को नोच-नोच कर, पेट को काट-काटकर इकठा करनेवाले ये सेवा के भूखे भक्त जब 'दीन-बन्धु, शील-सिंधु, बाल-ब्रह्मचारी' के पास जाते हैं, तब जैसे 'दीनबंधु' का ऐसा आशीर्वाद प्राप्त कर आते हैं कि फिर दीनों के हजार अभिशापों का कोई असर नहीं पड़ सकता। इसीलिए रेल-कंपनियों को भाड़ा दिया जाता है। और बाइयों को तो इन महाराजों ने 'दर्शन और सेवा' के व्रत में ऐसा पक्का कर दिया है कि अव्वल तो गाँव से निकलना ही बुरा लगता है और छोटी-मोटी निकलती भी है, तो कोई १०-१२ महीनों से ज्यादा टिक नहीं सकती, अथवा टिकने नहीं दी जाती, क्योंकि दर्शन और सेवा का व्रत लिया हुआ रहता है। इसीलिए तो कहा जाता है कि "बायां नहीं रैवै तो धर्म टिकनो मुश्किल हु जावे।" कैसी धर्मशीला होती हैं ये कि बालक रोये तो रोये, घरवालों को वक्त पर भोजन मिले या न मिले, पति अथवा बच्चों की सेवा हो या न हो, पर महाराजों के दर्शन और सेवा में कमी नहीं रह सकती। और 'मोटकी' बाइयों का तो पूछना ही क्या, उनके सहारे तो यह धर्म का भारी गाड़ा चलता ही है। औरों को एक मोक्ष मिलेगा तो इन्हें एकसाथ बीस-बीस मोक्ष मिलेंगे। और सौ-सौ मोक्ष एकसाथ पानेवाले

विरले भागवान भी हैं ही जो दर्शनों के लिए बाइयों और भाइयों की स्पेशल ट्रेनें ले जाते हैं, दीक्षा-महोत्सव और 'चौमासा' में दर्शनों के लिए आनेवाले हजारों यात्रियों के लिए मकान, ईंधन और पानी आदि का प्रबन्ध कर के शासन की प्रभावना करते हैं।

सेवा का कंट्राक्ट

●

"सेवा"-वृत्तिवाले इन भाइयों और बाइयों से अपने आस-पास के दुखी लोगों के लिए कोई मदद नहीं होती, अपने सेवकों की कठिनाइयों को समझने की बुद्धि नहीं होती, उनके घर में जो पैसा आ रहा है, वह कैसे आ रहा है, इस पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं, अगर कहीं जाकर सेवा करने से सच्चा सुख मिल सकता है, तो वह उन 'आत्मतम-भंजनकारी और चिन्ता-चूरण-मणि' की सेवा से ही। इधर तो हम भाइयों में 'सेवा-व्रत' के कंट्राक्ट की ड्यू डेट के नजदीक आने के खयाल से देश जाने की छटपटाहट देखते हैं, और उधर किसी 'खोपड़ी खराब' (सुधार और क्रांति के पथिक को यह उपाधि दी जाती है धर्म के कमाण्डर-इन-चीफ के हैड क्वार्टर्स से) युवक को जवाब देते हुए महाराज कहते हैं—"हम थोड़े ही इनसे कहते हैं कि हमारे दर्शन के लिए आओ, हमारी सेवा करो, रास्ते की सेवा के व्रत लो; पर जो अपनी इच्छा से हमें व्रत दिलाने को कहे उसके भावों में हम अन्तराय क्यों दें ? और 'साधु' की संगत तो अच्छी ही है।"

है आपके पास इसका कोई जवाब ? वे बुलाते थोड़े ही हैं, वे तो यह कहते हैं कि साधु की सेवा करना, उनकी संगति करना भव-बन्धनों से मुक्ति पाने का रास्ता है। वे किसीसे यह नहीं कहते कि तुम 'रास्ते की सेवा करो; कहते हैं तो यह कि 'रास्ते की सेवा' का लाभ अपूर्व होता है; वहाँ नित्य पातरे का लाभ मिलता है। देखा आपने, दोनों बातों में कितना फर्क ! कहाँ साधुओं के वचन और कहाँ लोगों के कार्य ? मना तो वे कर सकते नहीं, क्योंकि उसमें कर्म-बंधन का हेतु हो जाता है। यह ठीक है कि

वहुत-सी वातों में वे मना भी करते हैं, पर उनमें कर्म-बंधन का हेतु इसलिए नहीं होता कि उनके लिए तो शास्त्रों में विधान होता है।

साधु-साध्वियों के लिए सेवा के क्षेत्र उपाश्रय और स्थानक हैं तथा श्रावकों के लिए साधु से बढ़कर सेवा के और कोई पात्र नहीं। जैन धर्म में सेवा का कैसा भव्य विधान है यह ? है कोई संसार में और भी ऐसे गुरु और उनके ऐसे भक्त ! ऐसे सेव्य और ऐसे सेवक !

'तरुण ओसवाल'

दिसम्बर, १९४०
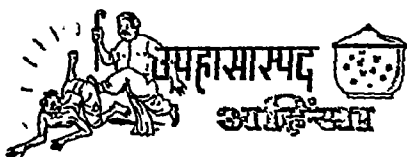
अहिंसा के बारे में सैद्धांतिक बातें तो सैकड़ों और हजारों वर्ष पुराने ग्रन्थों के आधार पर कई घुटे हुए दिमागवालों ने लिखी ही हैं। भारत की वर्तमान स्थिति पर उन सिद्धांतों का प्रयोग कैसे हो सकता है, पुराने जैनाचार्यों की बुद्धि कितनी तीव्र थी कि अहिंसा का बढ़िया सेब दिया सूक्ष्म-वीक्षण यंत्र द्वारा विश्लेषण कर लिया इत्यादि बातें लिखनेवाले और 'पुरानी निधि' 'पुरानी निधि' की दुहाई देकर आज कंगाल-बैंक की मैनेजरी करनेवाले भी आपको बहुत मिल जायेंगे। लेकिन अपने राम न पुराने खजाने को याद कर कर के वर्तमान को भूलते और न भविष्य की सुनहरी कल्पना के जाल में फँस आज की उपेक्षा करते। अपने राम तो आस-पास, इधर-उधर, निकट-दूर, सब और आज को देखकर सोचते और आज के लिए करते हैं। भारत और विलायत, अमेरिका और आस्ट्रे-लिया सब अपने लिए एक ही हैं। विश्व-बन्धुत्व के अपने राम हिमायती हैं, इसलिए अपनी अहिंसा वर्तमान से ऐसा सम्बन्ध रखती है, जो केवल भारत के ही नहीं, बल्कि संसार भर के समझदार—ना-समझ या कम-समझ नहीं—प्राणी-मात्र को मोक्ष के दड़बे में घुसेड़ सकती है जहाँ से कोई कभी आया नहीं बतलाते हैं, आता नहीं है और सुनते हैं कि आयेगा भी नहीं।

'फोकस'

●

और अपने राम की यह अहिंसा—मानवता के आधार पर उसे खरी और उपयोगी सिद्ध किया जा सके या नहीं, 'अहिंसा परमो धर्मः' माननेवाले संसार के सारे धर्मों में कही गयी अहिंसा की व्याख्या में वह फिट बैठे या नहीं पर वह अपने वर्तमान जैन धर्म की सच्ची—सोलहो आना सच्ची कह दूँ तो भी हर्ज नहीं—अहिंसा जरूर है, क्योंकि त्रिवर्ग (या त्रि-सम्प्रदाय !) साधु-साध्वी मण्डली उसका प्रचार करती है, उसके माननेवालों की अगुआ है, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसके उपयोग को देखकर खिल उठती है, उसे बुरा नहीं समझती इत्यादि इत्यादि। इसलिए मैं जो अहिंसा का व्यापक रूप आप लोगों के सामने रख रहा हूँ, वह आपको जैन-अहिंसा के वर्तमान सच्चे रूप के बहुत निकट पहुँचा देगा। अतीत के चौबीस तीर्थंकर, वर्तमान के चौबीस तीर्थंकर और भावी चौबीस तीर्थंकर आपकी और पाठकों की बुद्धि पर प्रकाश का वह फ़ोकस (focus) डालेंगे कि इन साधु-मुनिराजों, स्वामी-आचार्यों, संतों-पूजजियों, साध्वियों, सतियों, आर्यिकाओं, ब्रह्मचारिणियों द्वारा प्रचारित अहिंसा की व्यापक महत्ता और दूरंदेशी से पूर्ण व्यावहारिकता साफ-साफ दृष्टिगत हो जाय।

मैं "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" तथा "यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां·····सा हिंसा" आदि प्राचीन श्लोक सूत्र देकर और संकल्पी, व्यवहारी, आरंभी, व्यापारी, विकल्पी, शतकल्पी आदि हिंसा के भेद-प्रभेद-उपभेदादि की व्याख्या बतला और फिर उनके निषेध को अहिंसा कह आपके दिमाग को चक्कर में नहीं डालूँगा।

क्रोध, प्रेम आदि की सैकड़ों पृष्ठों में व्याख्या कर दी जाय तो भी वे समझ में जल्दी नहीं आ सकते। क्रोधी व्यक्ति' के स्वभाव, उसके कार्य-कलाप, उसके क्रोध के परिणाम आदि के वर्णन से ऐसे क्रोध की भावना

को जल्दी हृदयङ्गम किया जा सकता है, इसी प्रकार मैं भी अहिंसा की व्याख्या के पचड़े में न फँसा आपको अहिंसा के आदर्श को माननेवाले पक्के सनातन जैन भक्त और उनके गुरु आदि उस आदर्श को कैसे व्यवहार में लाते हैं, वह बतलाता हूँ, ताकि आपको अहिंसा का व्यावहारिक रूप समझने में आसानी हो।

शेर के पंजे में

●

मान लीजिये, एक शेर आदमी पर हमला कर बैठा या करनेवाला है। सच्चा जैन—ठीक महवीर की पीढ़ी में जन्म लेनेवाला जैन—दुर्भाग्य या सौभाग्य से इस घटना को कहीं से दुबका-दुबका कर देख रहा है। तब वह क्या करेगा? यह तो मान लेना चाहिए कि वह बेहोश नहीं हुआ है, ऊपर से 'म्यां' और नीचे से 'चीं' की ध्वनि करता हुआ उसका प्राण-पखेरू गले के द्वार को नहीं खटखटा रहा है, या उसकी आँखें अपने स्थान छोड़ भागने को नहीं तत्पर हो गयी हैं, या उसके शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग फूलकर कुप्पा या सूखकर काँटे नहीं हो गये हैं, अर्थात् वह बहुत अधिक नहीं डर गया है और सोच-विचार सकता है, जीवित है, होश में है क्योंकि सुरक्षित स्थान में छिपा बैठा है। और मान लीजिए कि वह पास ही से ऐसे व्यक्ति को भी बुला सकता है जो शेर के पंजे में पड़े व्यक्ति को छुड़ा ले—यह स्पष्ट है कि शेर को मार कर या उसके सामने उसके भोजन की अन्य कोई सामग्री लाकर देने से ही उस व्यक्ति को छुड़ाया जा सकता है। लेकिन इस सारी परिस्थिति में भी सच्चा जैन शेर को मारने या उस आदमी को छुड़ाने का प्रयत्न नहीं करेगा, प्रयत्न करने के लिए किसीसे नहीं कहेगा, प्रयत्न करनेवाले की क्रिया का अनुमोदन नहीं करेगा। उसके दिल की गति कितनी ही बढ़-घट जाय, अपने सुरक्षित स्थान को अधिक मजबूत कर लेने की जरूरत वह भले ही महसूस कर ले, लेकिन जहाँ तक

शेर के मुँह से आदमी को बचा लेने का सवाल है, वहाँ तक वह निर्विकार, निश्चल, निष्प्रभावित रहेगा। चाहे बिल्ली चूहे पर ताक लगा रही हो, बाज कबूतर पर झपट रहा हो, आदमी आदमी की हत्या के लिए छुरी पैनी कर रहा हो, कुछ भी हो, ऐसे अवसर पर सच्चा जैन गृहस्थ—जैन-साधु तो इन सब बातों में और भी ऊँचा उठा हुआ है—चुप रहेगा, निर्लिप्तता बतायेगा; क्योंकि जैनधर्म की जिन पर जिम्मेवारी है और जैनधर्म के लिए ही जो जीने का दावा करते हैं और जैन गृहस्थों के धर्म के मामलों में जो उपदेशक और पथप्रदर्शक समझे जाते हैं उनका ऐसा ही उपदेश, ऐसा ही मार्ग-दर्शन है। ऐसा ही क्यों करना चाहिए, इसके लिए प्रमाण में केवली के वचन हैं जिनमें अश्रद्धा रखना, अविश्वास करना, जिन पर शंका उठाना, जिनको अधिक समझने-बूझने की जिज्ञासा करना महापाप है, मिथ्यात्व है और इसलिए गुरुओं, धर्माचार्यों को असह्य है। केवली के वचनों के प्रमाणों के अतिरिक्त शेर को मारे या बिना मारे आदमी को बचाने में जो पाप है उस सम्बन्ध की दलीलें भी नीचे दी जाती हैं।

राग-द्वेष

•

आदमी को बचाने का प्रयत्न करना या उसे बचाना, या उसे बचाने के लिए दूसरे को तैयार करना इत्यादि आदमी की रक्षा से सम्बंधित कोई कार्रवाई वह जैन गृहस्थ करता तो स्पष्ट है कि उस आदमी के प्रति उस जैन गृहस्थ की राग-भावना थी।

जैसे धुआँ से अग्नि पहिचानी जाती है, उसी तरह उस आदमी के प्रति राग-भावना होने से यह भी साफ है कि उस आदमी के दुश्मन अर्थात् शेर के प्रति उस जैन गृहस्थ की द्वेष-भावना मामूली होती और मनुष्य के चौरासी लाख जीवायोनि में चक्कर लगाने के कारण राग-द्वेष जनित कर्म ही तो हैं। ये राग-द्वेष ही संसार के सबसे बड़े बन्धन, मुक्ति के सब

से कठोर बाधक, धर्म-क्रिया और धर्म-प्रेम में अड़चन डालनेवाले सबसे तीक्ष्ण कंटक, आदि २ हैं। अस्तु।

शेर को वह जैन गृहस्थ मारता तो पञ्चेन्द्रिय की हिंसा होती। उसको बगैर मारे आदमी को बचाने के लिए शेर को डराता, भगाता तो शेर के प्रति द्वेष-भावना रखने और उस पर हिंसात्मक प्रहार करने या प्रहार करने के प्रयत्न आदि से जो पाप का बंध होता वह तो होता ही, पर उस आदमी के बचने में जो पाप का बंध होता वह और भी अधिक गुरुतर था। वह आदमी—पञ्चेंद्रिय प्राणी—जैन गृहस्थ के प्रयत्न से बच जाता तो उस आदमी के द्वारा उसके शेष जीवन में संसारी-कार्यों की संलग्नता व क्रिया आदि से जो कर्म-बंध होता उसका सारा या आंशिक बोझ उस जैन गृहस्थ पर पड़ता। वह आदमी जीवित रह जाता और खेती करता, या सुनार की धोंकनी चलाता, या चमड़े के जूते बनाता, या सुरा-सम्पत्ति-सुन्दरी के चक्कर में पड़ कुकर्म आदि करता अथवा और कुछ कार्य दुनिया में रहता हुआ करता तो उन सब कर्मों का कुछ न कुछ फल उस जैन गृहस्थ को भी भोगना पड़ता। मान लीजिये, शेर को मारे या बिना मारे आदमी को स्वयं न बचा वह जैन गृहस्थ दूसरे व्यक्ति को इसके लिये तैयार करता तो भी उस गृहस्थ को पाप का बन्ध तो होता ही। दूसरा व्यक्ति उस आदमी को बचाने में जो कुछ क्रिया-कर्म करता, उसके फलस्वरूप वह आदमी बचकर शेष जीवन में जो क्रिया-कर्म करता और शेर भूखा रह जाता इन सबमें दूसरे व्यक्ति का जितना कर्म-बंधता उसमें वह जैन गृहस्थ ही तो निमित्त कारण था अतः उस सारे पाप का बोझा भी बहुत कुछ उसी गृहस्थ पर पड़ता।

इस तरह उस जैन गृहस्थ ने न केवल सच्चे जैनत्व की रक्षा की, न केवल अहिंसा और सच्चे मानव-धर्म का अर्थ दुनिया के सामने रखा बल्कि राग-द्वेष से परे रहकर अपनी आत्मा का कल्याण किया और मुक्ति की ओर एक कदम आगे सरका।

इसमें पुण्य किस तरह हुआ, इस पर थोड़ा प्रकाश डाल देना भी असंगत नहीं होगा। धर्म-सम्मत सिद्धान्त और साधुजी-पूज्यजी-यतिजी-स्वामीजी आदि के सदुपदेश के पालन का पुण्य तो हुआ ही, साथ ही शेर की प्राण-रक्षा का पुण्य हुआ। आदमी की पुण्य-रक्षा में पुण्य यों नहीं था कि उसमें राग-द्वेष जनित प्रयत्न और स्वार्थ-पूर्ण कर्म उस प्राण-रक्षा का साधन होता; इस प्राण-रक्षा में पुण्य यों कि यह निस्वार्थ और निर्लिप्त प्रयत्न अर्थात् प्रयत्न-शून्यता का परिणाम था। शेर ने शेष जीवन में जंगल पर आधिपत्य रख मृगादि को, वनस्पति कायिक जीवों को सताने और नष्ट करने आदि से रोका, गीदड़ों को 'हुआं हुआं' कर वायुकायिक जीवों को सताने या मारने से रोका (शेर को यह सदुपदेश और दे दिया जाता कि वह अपनी धाक से जंगल के सब जीवों के मुँहपत्ती बँधवा दे और इस तरह वायुकाय के जीवों की रक्षा कर दे तो उस जैन गृहस्थ के पुण्य की गठरी और भी अधिक भारी हो जाती !); जङ्गल भर की तिर्यंच गति के जीवों की सृष्टि को अंशतः रोका, तिर्यञ्च गति के जीवों की सृष्टि को रोककर वनस्पतिकाय के जीवों के नाश को रोका, इत्यादि २ जो पुण्यकार्य शेर द्वारा हुए उन सब पुण्य-कर्मों का थोड़ा बहुत फल उस जैन गृहस्थ को भी मिला।

तो यह है हमारे अहिंसा व्रत के पालन का आदर्श, जैनत्व की रक्षा के लिये मर मिटने का पुण्य-कार्य, महावीर के वचनों का संसार में डङ्का बजवा देने का अचूक उपाय ! यह पहिले ही कहा जा चुका है कि शेर और आदमी के बीच होनेवाले संघर्ष के समय अहिंसा के आदर्श पर जैसे कायम रहना चाहिये वैसे ही बिल्ली और चूहे, आदमी और कुत्ते, आदमी, और खरगोश, साँप और छछूंदर के बीच होनेवाले संघर्ष, तेरापंथी, ढूंढिया या मन्दिर मार्गी साधु या श्रावक आदि के बीच होने वाले मुँहपत्ती-दण्ड-

मुण्ड-ओघा-पात्रादि संग्राम में भी अहिंसा-व्रत का सौ फीसदी पालन किया जा सकता है।

दूसरा रूप

●

जिस अहिंसा के मर्म को समझकर जैन लोग आज व्यवहार में ला रहे हैं और धर्म-ध्वजाधारी साधु वर्ग जिसको देखता, और सराहता है उसीका एक रूप ऊपर बतलाया गया है। अब थोड़ा-सा दूसरा रूप देखकर भी अपने साथ कुछ पुण्य बाँध लीजिये। यह रूप विशेष उदाहरणों द्वारा न समझा कर सूक्तियों के रूप में बतलाऊँगा और इस रूप के व्यवहार का मार्ग भी साफ सरल शब्दों में कहा जायगा। अहिंसा के इस दूसरे रूप के व्यवहार करनेवाले और माननेवालों से सीखना चाहिये कि :

आदमी नाम के जानवर को तंग करने, चूसनें, खा जानें, उसके खून को पी जाने आदि से तब तक हिंसा नहीं होती जब तक कि इस सिलसिले में कोई ऐसी क्रिया न हो जाय जिससे उस आदमी के सचमुच खून निकल आये, घाव पड़ जाये या उसके शरीर का कोई मांसल हिस्सा अलग कट कर पड़ जाये। अगर आदमी नाम के जानवर को तंग करने, चूसने, खा जाने, पी जाने आदि में भी क्रिया इस प्रकार की जा रही है कि वह न उसको महसूस करता है, न उससे छटपटाता या घबड़ाता है तो वह अहिंसा सोलहों टंच खरी अहिंसा होती है और यदि उसमें क्रिया ऐसी हो जाती है कि जिससे वह मन-ही-मन छटपटा उठता है, उसकी पीड़ा को अनुभव करता है तब समझना चाहिये कि वह अहिंसा है तो अहिंसा ही, पर है अधूरी। इस क्रिया के साथ में एक शर्त और है जो इसे अहिंसा का रूप देती है, और वह शर्त यह कि इस क्रिया के फलस्वरूप जो स्थूल या सूक्ष्म पुण्य-रूप सम्पत्ति मिले उसके शतांश का प्रयोग कबूतरखाने खुलवाने, साल में एक दिन कसाईखाने बन्द करवाने, स्थानक आदि में साधर्मियों

से दया पलवा कर चींटियों को मृत्यु से बचाने, अंधी-लूली-पांगली गायों के लिये (उनमें दूध-घी की जरूरियात के माफिक बढ़िया गाय आदि भी आ मिलें तो कोई हर्ज नहीं !) गोशाला-पींजरापोल खुलवाने इत्यादि हिंसा को रोकने और दयाधर्म के विस्तार करने के कामों में होना चाहिये और निन्यानवे अंश का प्रयोग अपने उदर, अपनी तिजोरियों और आल्मारियों, अपने धर्मादे आदि के खातों को भरने के लिये होना चाहिये ताकि पंचतत्वों से बना शरीर उपरोक्त प्रकार के हिंसा-निवारण और दया-विस्तारण के कार्य जीवन की अंतिम अवधि तक गिरता-पड़ता किसी तरह करता रहे। सूत्र रूप में यह कि 'हाथी को ज्यों का त्यों जिन्दा देखते रहना या जिन्दा छोड़ देना तथा चींटी आदि तुच्छ जीवों को मारना हिंसा है तथा इसे निषेधात्मक रूप में कह दें वह ही 'अहिंसा है।' अर्थात् 'हाथी को ज्यों का त्यों निगल जाना और चींटी को बचाते रहना' अहिंसा का व्यावहारिक रूप है।

यश-दृष्टि

०

इसी तरह आदमी नाम के जानवर के बच्चों के लिए कोई शिक्षण-संस्था बनाये तो उसको संकल्पी और आरम्भी हिंसा का दोष लगता है। उसके बनाने में सहायता देने का वचन दे तो संकल्पी हिंसा का अधिक और आरम्भी हिंसा का स्वल्प दोष लगता है। इसलिए अहिंसक जैन-गृहस्थ ऐसे आरम्भ-सारम्भ के काम के लिए पैसा नहीं खर्च करता, सहायता का वचन नहीं देता, इनमें तन-मन-धन को लिप्त कर पाप की गठरी नहीं बाँधता। मंदिर और स्थानक बनाने या बनवाने में तथा रथयात्रा उत्सव, दीक्षामहोत्सव या मायमहोत्सव कराने में आरम्भी-संकल्पी आदि आदि हिंसा का दोष नहीं लगता क्योंकि वह कर्म देव-गुरु-धर्म के निमित्त हो रहा होगा। इसमें भी तन-मन खपाने वालों को तो हिंसा का दोष लग सकता है पर धन देनेवाले पूँजीपति का तो नाम 'पुण्यात्मा', 'धर्मात्मा', 'सुश्रावक',

'शुद्ध अहिंसक' विशेषणों से सुशोभित होनेवाला समझा जाना चाहिये। उसका नाम मन्दिर या स्थानक के सिंहद्वार पर लगे पत्थर में खुद जाता है अतः संकल्पी और आरम्भी हिंसा का जो थोड़ा बहुत दोष उसके पल्ले पड़ता वह भी उस पत्थर के खाते में चला जाता है क्योंकि वह पत्थर उनका प्रतीक वर्षों तक रहता है।

'तरुण जैन'
जनवरी-फरवरी, १९४१

ओ मूढ़ श्रावक !

रात की एकान्त सेवा में महाराज के सामने अंग्रेजों की चापलूसी करने और गांधीजी को गालियाँ निकाल कर दिल के फफोले फोड़नेवाले ओ मूढ़ श्रावक ! तुम्हारे कान क्या झंकारित नहीं होते हैं इन गुरुओं के काल्पनिक उसूलों की बेड़ियों से, जो तुम्हें गुलाम और मजलूम बनाये हुए हैं। श्रावक, तुम हिटलर को गालियाँ बकते हो कि उसने यूरोप के लाखों और करोड़ों आदमियों की जबान को दमन के दामन से बन्द कर दी है; पर तुम जरा भी महसूस नहीं करते इन अहिंसक सामन्ती आचार्यों की हिटलरशाही को, जो रात-दिन तुम्हारे दिल और दिमाग को शास्त्रों के पवित्र नाम पर दबाये रखती है ! तुम बोलोगे नहीं, श्रावक ! क्योंकि तुम जानते हो कि यदि इसके विरुद्ध तुम स्वतन्त्र ज्ञान से पोषित कुछ तर्कों को पेश करना चाहते हो, तो तुम्हें 'मिथ्यात्वी, अणमती और खोपड़ी-खराब' बनना पड़ेगा। इतना ही नहीं, पर उस धर्म के ठिकाने पर तुम्हारी भर्त्सना होगी, तुम फटकारे जाओगे उन 'मोटके' श्रावकों से जो इन्हीं महाराजों (नामधारी दीन-बन्धुओं) के प्रताप से वैभव और विलास की तरङ्गों में अन्धे हो रहे हैं, जिनके महलों में नाच-गान का विलास रंग जमाए हुए है, 'जिनको जीवन-व्यवहार में स्वर्ग और नरक की कोई चिन्ता नहीं (क्योंकि जब चाहें तब मोक्ष का द्वार खोल देने वाला धर्म तो उनके टुकड़ों पर पलता है), इसलिये आमोद और प्रमोद ही जिनके जीवन का लक्ष्य और साधन है।

बे-असर 'बखाण'

●

गुरु महाराज के चारों ओर बैठे हुए नन्हें-नन्हें साधु-साध्वियों की चुहलबाजियों को देखने में मस्त ओ अबोध श्रावक ! जानते नहीं, ये ही तो धर्म-मार्ग के दीप-स्तंभ हैं जिनसे तीनों लोक रोशन हो रहे हैं और जिनके प्रकाश में ही जीवन-सागर में धर्म-यात्रियों के जहाज चल रहे हैं । तुम जानते हो न उस सेवा-ग्राम के लंगोटीधारी 'बापू' को, जिसके साल भर के ५२ लेखों को पढ़ने से हजारों-लाखों मनुष्यों की जीवनधारा में सत्य और अहिंसामयी क्रान्ति की नव किरण फूट रही है । और तुम कैसे निकम्मे हो कि यहाँ तुम्हारे 'आपजी' के तीनों वक्त के 'बखाण' से भी अभी तक तुम्हारे हृदय में मनुष्यों के प्रति वही वैर-भाव, तुम्हारे कुटुम्ब में वही कलह और तुम्हारे व्यवहार में वही स्वार्थपन है । इसके बावजूद भी तुमने सुना है न इनके 'बखाण' को, जिसको सुनने के लिये तुम्हारी भौजाइयाँ अपने दुधमुँहे बच्चों को बिलबिलाते छोड़कर आती हैं, तुम्हारी माताएँ तुम्हारे बूढ़े पिता की सेवा की कुछ परवाह न कर 'हजूर साब' के 'ठिकाने' दौड़ जाती हैं । और सुना है तुमने उस ला-जवाब 'बखाण' को जो समा बाँध देता है सुननेवाले के मन-मंदिर में ! इन 'बखाणों' के सामने आज-कल के बोलते चित्रपट भी क्या हैं ! जब करने लगते हैं महाराज शृङ्गार रस का वर्णन, तो रीतिकाल के कवियों का नख-शिख वर्णन पानी भरता है; और फीकी पड़ जाती हैं, उनकी शृङ्गार की कहानियाँ ।

शील व्रत ! हाय !

●

यह सब तुम जानते नहीं, ऐसा कैसे मानूँ ? शायद नींद की खुमारी में या 'साहजी' के साथ दलाली और गद्दी की बातों में मस्त होने से तुमने ध्यान नहीं दिया हो, पर, ओ मस्त श्रावक ! क्या तुम्हारी भलाई के लिये मैं कुछ शब्द याद दिला दूँ :—

"पून्यूं की चानणी रात ही, झीणी-झीणी हवा चाल रही ही, झिरमिर-झिरमिर मेह बरस रह्यो हो, मोरिया पिऊ-पिऊ कर रह्या हा, सुखसेज बिछ्योड़ी पड़ी ही, बी पर स्यूतोड़ सेठ क मन र मायने वेश्या की याद आयगी। बी साग ही कांई, इस्यो कुण निर्भागी हुसी नकर मन में ई समय र मॉयनें कामदेव नहीं जाग जावे।"

श्रावक! यह है, यहाँ दोपहर में होनेवाले 'बखाण' का एक फुटकर अंश, जो तुम्हारी विधवा बहनों और भौजाइयों के सामने गा-गाकर ऊँचे स्वर से सुनाया जाता है, जिनको तुम शीलव्रत पालने के लिये मजबूर किया करते हो। तुम्हारी कुँवारी बहनों के सामने हाथ के लटके दे देकर व मुँह बना-बनाकर यह बखाण सुनाया जाता है, जिनको तुम सच्चरित्र बनाना चाहते हो!

वैमनस्य

●

महावीर के विश्वप्रेम के संदेश को सुनने के लिये आकुल श्रावक! तुमने अपने 'त्रिलोकीनाथ' के उस विधान को सुना है न, जिसके अनुसार सिवाय ओसवाल, अग्रवाल, पोरवाल और माहेश्वरियों आदि के और किसीको भी मोक्ष जाने के मार्ग (साधुत्व) का अधिकारी नहीं समझा जाता। अधिकार तो क्या, बिचारी और जातियों से तुम्हारे उत्सवों और महोत्सवों में बुरी तरह मखौलबाजी कर उनको नीचा दिखाया जाता है। लोगों की 'खमा खमा' की तुमुल ध्वनि में शायद तुम्हारे कान बहरे हो चले हों और तुम इन शब्दों को न सुन पाये हो; पर मैं तुम्हें बता देता हूँ—

"..... गणिन्द तेज तपै मारतण्ड जैसो,
सन्त-सती सौहें जाने बीजली का लट्टूडा।
वैरागी वैरागिनियों को विरह पड्यो न कदै,
होड़ा-होड़ आवै भेट न्हांना न्हांना गट्टूडा।

इन शासन की देखादेखी और भी करै मूढ़,
मूंड मूंड भेला करै नाई, खाती, जटूड़ा।
भनै…… पर ऐराक घोड़ा की होड़,
कैसे कर सकै भार घींसनै का टटूड़ा।"

देखा, श्रावक! आँख खोल कर देखा कि तुम्हारे ये 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' बननेवाले 'अन्तर्यामी' साधु किस तरह तुकबन्दी और टोटके जोड़कर समाज के भीतर साम्प्रदायिक और जातीय वैमनस्य फैलाना चाहते हैं जिससे सभ्य समाज में हास्यास्पद बनते हैं। राग-द्वेष से मुक्त इन साधुओं की वाणी तुमने सुनी न? इनके 'लटूड़े' और 'गटूडियों' की शोभा देखी है न? कितने नन्हें नन्हें 'गटूड़ों' की भेंट तुमने की है, और उसके बदले तुमने क्या पाया? उन छोटे-छोटे 'लटूड़ों' की जबान पर लगे हुए ताले खोलकर पूछ सको तो पूछो—उन्हें भी क्या मिला? पर, मैं जानता हूँ श्रावक! तुम में इतनी हिम्मत नहीं है। तुमने तो अपने पैरों में बेड़ियाँ डाल ली हैं। श्रावक! तुम्हारा हृदय क्या अन्दर ही अन्दर जलता होगा, तुम्हें क्रोध आता होगा, ऐसी बेतुकी बातों पर जो शास्त्रों के सरासर खिलाफ हैं? जिन महावीर के संघ में चाण्डालों तक के लिये स्थान था, उन्हीं महावीर की आज्ञा में चलने का दम्भ भरनेवाले तुम्हारे ये 'अन्नदाता' नाई, खाती, जाट आदि सवर्ण हिन्दुओं की भी आज भर्त्सनापूर्ण भाषा में मजाक उड़ाते हैं। क्या यह जैन साधु को शोभा देता है?

ये 'मोटके'

●

श्रावक! तुमने वहाँ आगे की पंक्ति में बैठे हुए महाराज के कानों में गुपचुप करनेवाले, बम्बई-कलकत्ता में कल-कारखाने चलानेवाले फूली हुई तोंद और चिकने मुँहवाले 'मोटके' श्रावकों को देखा है, जो तुम्हारे 'साक्षात् तीर्थंकर देव' के इशारे पर उनके लिये कुछ चापलूसी के शब्द कहलाने को चन्द गौराङ्गों और राजदरबारी अफसरों को बुलाने के वास्ते हजारों नोटों

का व्यय करते हैं, जो हजारों मजदूरों और निर्बलों के शोषण से लूटे हुए कल्दार रुपयों से तुम्हारे 'चौथे आरे के बरताने वाले' आचार्य श्री की शान को बढ़ाने के लिये विराट महोत्सव करते हैं, ज्ञान-पूजा, तप-पूजा, और उद्यापन करवाते हैं। या उनके शुभागमन पर दर्वाजे, फर्रियाँ, और मोटों बनवाते हैं, व्याख्यान-शालाओं का निर्माण कराते हैं, और जो महाराज से अपनी बड़ाई कराने के लिये स्पेशल ट्रेनें अपने ही जैसे भक्तों से भर कर लाते हैं और छोटे छोटे बच्चों को दीक्षा के लिये आकर्षित करने को 'वैरागियों का बाजे-गाजे सहित बिन्दौरा निकालते हैं।

पूजा करने, 'समाइयां' करने और 'नकवारली' गिनने में लीन श्रावक ! 'महावीर स्वामी के पन्थ को दीपानेवाले' आचार्यश्री पर अपनी एकछत्र सत्ता रखनेवाले और आनन्द श्रावक की पंक्ति में बैठनेवाले इन 'मोटके' अमीरों के जीवन का हाल तुम्हें मालूम है न ! जानते हो न कि हमेशा स्वार्थ की टट्टी की आड़ में खेलनेवाले ये वासना के कीड़े अपनी कामुकता के लिए न जाने कितनी कुमारियों का कौमार्य नष्ट करते हैं और कितनी विधवाओं का सतीत्व लूट लेते हैं। तुम समझ सकते हो, इन 'भागियों' के जीवन में कैसी दारुण ज्वाला जलती रहती है, मन में मलिन उदासी रहती है, ओठ काँपते रहते हैं, इनका संसार अपने विषम ताप से ग्रस्त है, उर उद्वेलित है, मानो युग-युग की असफलता अपनी अन्तरतम की प्यास से छल, निर्ममता और निष्ठुर दंश का रूप बनाये हुए है।

शान-शौकत

'पाखण्डरूपी अन्धकार को हटानेवाले' महाराज को 'तहत्त वाणी', 'घणीखमा' और 'धन वाणी' कहते-कहते न थकनेवाले ओ मूढ़ श्रावक ! तुम हमेशा देखते हो न अपने 'धर्म की ध्वजा फहराने वाले' हजूर साहब की शान-शौकत को, जिसका खर्च आज तुम्हें इस गरीबी में चिन्तित बनाये हुए है ? फिर भी क्या तुम बोल सकते हो ! नहीं, तुम्हें कहने का कोई

अधिकार नहीं, यदि बोलोगे तो ये अहिंसक आग उगलनेवाली तोपें तुम्हें नेस्तं-नाबूद कर देंगी ! तुम्हारे स्थान पर फिर कभी चौमासे की मंजूरी नहीं होगी ! तुमने शायद ही अपने जीवन में या अपने बच्चों को भी ऐसे कपड़े पहनाये हों, जो आज तुम्हें अपना मतलब गाँठने के लिये इन 'साधां' के वास्ते देना पड़ता है ! मैन्चेस्टर, ग्लासगो और लंकाशायर ने तुम्हारे इन 'माइतपणा' रखनेवाले साधुओं और उनके भक्तों के ही बल पर तो अभी भी कलकत्ते की सूतापट्टी पर अपना अधिकार जमा रखा है ! नैनगिलाट, पांचपी, रेशमी चादर और ढ़ाके के अतीत गौरव को याद दिलानेवाली विलायती मलमल आज तुम्हें इन 'धर्म धोरियों' के शरीर की शोभा बढ़ाने के लिए ही तो खरीदनी पड़ती है ?

'पंचमी'

●

श्रावक ! निकलते हुए सूर्य्य की हल्की-हल्की किरणों के प्रकाश में तुमने गाँव की कुछ पेटेन्ट वाड़ियों के पास एक जुलूस को खड़े हुए देखा है न ! सुबह की उनीन्दी में झपकी आ जाने से शायद तुम्हारा दिमाग ठिकाने न रहा होगा, पर मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि जो तुम हमेशा देखते हो, यह जुलूस नहीं पर तुम्हारे गुरुमहाराज का 'पंचमी' जाने का स्थान है ! फड़कता हुआ ठाठ तो चाहिये ना, क्योंकि आखिर तुम्हारे ये ठहरे 'घट घट वासी' देव !

'गौचरी'

●

सुबह सूत्र सुनकर 'पोरसी' आने पर जब तुम 'ठिकाने' से बाहर निकलते हो तब श्रावक ! तुमने देखा है, कई 'भावना भाकर' घर की ओर तेजी से दौड़नेवाले 'मोटके' भक्तों को ? तुम्हें ख्याल होगा कि इनके यहाँ आज गोचरी की बारी है। यदि विश्वास नहीं करते तो चलो हमारे साथ

उधर मुसाहिबजी की तरफ, जो सन्तों को अपनी-अपनी बारीवाले घरों से आहार—पानी लाने का आदेश दे रहे हैं। अब तो समझे उन श्रावकों के अनन्त जीवों की 'विराधना' करते हुए भागने का कारण! उधर देखो, अपनी 'लुगाइयों' को डाँटते हुए वे भक्त बुरी तरह झुँझलाते हुए सीरा, चावल, लापसी और सागों को चूल्हे से बाहर रख रहे हैं; खाटा, गोली, मिनकादाख और आम के पापड़ों को बन्द पड़े हुए डिब्बों से बाहर निकाल कर 'सूस्ता' कर रहे हैं; बच्चों के मचलने के डर से छिपाकर रखी हुई आम की फांक और 'जमेरी का पणा' धीरे से 'मथवारे' से नीचे उतार रहे हैं। श्रावक! लार पड़ने के डर से थोड़ी देर और मुँह बन्द कर देखो; अभी तो तुम्हें एक विधवा बाई के घर और देखने ले जाना है, जहाँ दो टुकड़े किये हुए केले, नुकरे तोड़े हुए गोटे, पान की चूरी और अचित किये हुए सूखे मेवे अलग-अलग 'कोथलियों' में करीने से सजे हुए पड़े हैं। भोले श्रावक! वह देखो तुम्हारे गणिराज के चेले चार-पाँच भाइयों को गप्पों द्वारा रास्ते की सेवा का लाभ (!) कराते हुए किस तरह यहाँ 'पगलिया' कराने के लिये गर्मी से झुँझलाते चले आ रहे हैं। ओ श्रावक! चुपचाप ध्यान-पूर्वक देखो यह किस तरह मशीन की तरह निर्जीव शब्दों से अच्छी-भली और 'सूस्ती-असूस्ती' पूछ कर पातरों में आहार ग्रहण करते हुए 'चोखी अन्तराय' तुड़ा रहे है।

श्रावक! अपनी भव्य साधु-संस्था के उस अतीत गौरव को इस तरह लुटते देखकर तुम्हारा हृदय बिसूर रहा होगा, तुम अन्दर ही अन्दर छटपटाते होगे, और तुम्हारा दिल एक गहरी कसक से अवश्य क्रन्दन करता होगा—फिर तुम चाहे सम्वेगी, स्थानकवासी, तेरापंथी किसी संप्रदाय के हो। इसीलिये ओ श्रावक! आज तुम्हें इससे आगे चलने को नहीं कहूँगा।

'तरुण जैन'
जून, १९४१

पल, घड़ी, दिन, सप्ताह, पक्ष और महीनों की सवारियों पर उतरता-चढ़ता जैनियों का परम पवित्र 'चातुर्मास' आ पहुँचा और उससे भी परमातिपरम पवित्रतम 'पर्युषण पर्व' तेजी से चला आ रहा है। यह पता नहीं है कि इसी तेज चाल से हिन्द-चीन और रूस-अफगानिस्तान के रास्ते युद्ध के सैन्य भी आ रहे हैं या नहीं ? हो सकता है कि जिस दिन या जिन दिनों भारत भर के जैनी 'खामेमि सव्वे जीवाणं......' की ध्वनि से देवस्थानों, उपाश्रयों, स्थानकों और साधु-आवासों की दीवारों को हिला रहे हों, उसी दिन या उन दिनों में जर्मनी-इटली-जापान के बम भारत की पीड़ित, शोषित, दलित आदि विशेषणों से युक्त मानव-सृष्टि को जीवन्मुक्त करने के प्रयत्न में अथक परिश्रमपूर्वक लग जायँ, और हमारे हृदय को विदीर्ण करने में तत्पर हो जायँ। पर इन बमों से और इस त्रि-पुटी की फौज पल्टन से डरने का कोई कारण नहीं होना चाहिए जब तक कि हमारी अंग्रेज-सरकार, हमारे देशी नरेश अर्थात् हमारी अंग्रेज-सरकार और युद्ध-जातियाँ (Military aces) जिनमें सिक्ख, मुसल्मान, गोरखे, जाट, आदि शामिल हैं, सजग हैं, सचेष्ट हैं और तत्पर हैं। अंग्रेज सरकार की तत्परता को देखिये कि अपनी डेढ़-दो शताब्दी की हुकूमत में एक महाभारत के खत्म हो जाने और दूसरे महाभारत के छिड़ने के दो वर्ष बाद हिन्दुस्तान का पहिला हवाई जहाज तैयार हो गया और आकाश में अपने पंख फड़-फड़ा रहा है; मि० वेवल को, जिन्होंने पूर्व-अफ्रिका में ख्याति प्राप्त कर ली है युद्ध की तैयारी के लिए ला

बिठाया है; वायसराय की कौंसिल को परिवर्द्धित कर दिया है; राष्ट्रीय (?) रक्षा समिति का निर्माण कर दिया है; फ्रांस, अफ्रिका, यूनान, सीरिया आदि में भेजकर भारतीय सिपाहियों को युद्ध का प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया है; वाल्चंद हीराचंद को जहाज बनाने की इजाजत दे दी है, सर गिरिजाशंकर वाजपेयी को अमेरिका में एजेन्ट गवर्नर नियुक्त कर भेज दिया है ताकि संकटमयी स्थिति में वहाँ से धन, जन, युद्ध-सामग्री आदि से नहीं तो अमेरिकनों की सहानुभूति से ही भारत की सहायता कर सकें; बड़े-बड़े शहरों में 'अंधा-कुप्प' शुरू कर दिया है; हवाई हमले से रक्षा पाने के लिए खाइयाँ खुद रही हैं और न जाने क्या क्या कर लिया है। वायसराय साहब अपनी परिवर्द्धित कौंसिल की सहायता से और रक्षा समिति के सुझावों से क्या-क्या करने वाले हैं।

कैसी चिंता

●

तब फिर युद्धजनित आगत, अनागत अथवा आगमनशीला स्थिति की चिन्ता अपने दिमाग में से निकाल देनी चाहिए और 'धर्मध्यान', 'दया-पालन', 'पौषध-प्रतिक्रमण', 'धारणा-पारणा' आदि की एक विस्तृत, व्यावहारिक और मौजूदा योजना सोचकर उसका अनुसरण करना चाहिए। जितना कुछ गत सहस्रों और सैकड़ों वर्षों से हम इस धार्मिक प्रगति के लिए करते आ रहे हैं, उसको सर्वमान्य और समीचीन मानते हुए मैं कुछ ऐसी और प्रवृत्तियाँ इस समय सब साधर्मियों के सामने रखना चाहता हूँ, जो हमारी प्रगति को द्रुत कर दें। मैं सांप्रदायिकता से दूर रहना चाहता हूँ, अतः मैंने तेरापंथी, बीसपंथी, स्थानकवासी, संवेगी, नग्नपंथी, यति, क्षुल्लक, सती, साध्वी तथा उनके पृथक पृथक अनुयाई-अनुयाइनी आदि सबके लिए प्रवृत्तियाँ बताई हैं। जिनको जो प्रवृत्तियाँ अच्छी— धर्मसम्मत या गुरुवचन-सम्मत—लगें, उनको वे ही ग्रहण कर लेनी चाहिए। योजना सिर्फ पर्युषण पर्व के दिनों के लिये है—न कि चातुर्मास के लिए, यह ध्यान

रहे। क्योंकि उन्हीं दिनों में धर्म-रूपी घास बहुतायत से पैदा होती है और उस समय जमा कर ली गई उस घास अर्थात् संग्रहित धर्म से गत वर्ष की थोड़ी बहुत बची हुई भूख और कमजोरी मिट सकती है तथा आगामी वर्ष भर के लिये शरीर-धर्म का पालन-पोषण अच्छी तरह हो सकता है। श्रद्धालु श्रावक तथा श्राविका गण, वीतराग साधु तथा साधुनी मण्डल, इन्द्रियों का निग्रह करनेवाला यति तथा यतिनी-यूथ इस योजना को पढ़ें, पढ़ना नहीं जानते हों तो किसीकी सहायता से पढ़ें या सुनें तथा उनके अनुसार आचरण कर मोक्ष-मार्ग का पट्टा लिखवा लें। अस्तु।

प्रथम

●

पर्युषण पर्व जिस दिन से आरंभ होता हो उस दिन सुबह देवस्थान, धर्मशाला, उपाश्रय, स्थानक, साधु-आवास आदि पवित्र स्थानों में बाहर से ताला बंद हो और उनमें सिर्फ तीर्थंकर, क्षेत्रपाल, चक्रेश्वरी आदि की मूर्तियाँ, नग्न या छोटी-बड़ी मुँहपत्तीवाले या दण्डी साधु, मुनि, स्वामी आदि हों अथवा साध्वियाँ, सतियाँ आदि हों। श्रद्धालु श्रावक-श्राविकागण जब बड़ी संख्या में ऐसे स्थानों के बाहर उत्कण्ठा और आतुरता से एकत्रित हो जायें तब यह घोषणा की जाय कि जो सब से अधिक 'घी की बोली' बोलेगा अथवा "धर्म के कारणे" सबसे अधिक पैसा देने का वचन देगा, वह सबसे पहिले उस स्थान में प्रवेश कर सकेगा और भगवान्, साधु, मुनिराज इत्यादि जो भी कोई उस स्थान में हों उनका प्रथम दर्शन कर सकेगा। इसी प्रकार दिन भर में जितनी बार ये स्थान खाली हों तथा फिर से श्रावक-श्राविका सामूहिक-रूप में एकत्रित हों उतनी ही बार इस प्रकार की बोली से 'ऊँची से ऊँची बोली बढ़ने वाले' को उस स्थान में प्रवेश करने का अधिकार दिया जाय। फिर पूजा-प्रक्षाल, चंदन-भेंट, इत्र-लेपन, वर्क-साजी, पुष्प-भेंट, नैवेद्य-दान, आरती, शास्त्र का पत्र हाथ में रखने, चामर करने आदि की बोलियाँ तो बोली ही जानी चाहिए। प्रश्न हो सकता है कि इस प्रकार से

जो धन-संग्रह होगा उसका उपयोग कैसे व क्या किया जाय ? एक जवाब तो यह कि अब तक इन सब प्रकार की नहीं तो कुछ झोलियों से जो रुपया-पैसा इकट्ठा होता था, उसका जो उपयोग हो रहा था, वह ही उपयोग अब भी हो। अर्थात् यह भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवालों के आपस के मुकदमे लड़ने, मौके-बे-मौके सिर फुटौव्वल हो जाने पर मरहम-पट्टी दाह-संस्कार करने आदि में काम आवेगा। फिर भिन्न-भिन्न संप्रदाय वालों के द्वारा इस धन का भिन्न-भिन्न प्रकार से उपयोग हो सकता है। जैसे, नग्न-पंथी किसी भी जाति के कुटुम्ब को उस धन का एक अंश दे दें और कहें कि कुटुम्ब में से एक दो या अधिक व्यक्ति नग्न होकर उनके सम्प्रदाय की अभिवृद्धि करें। मंदिर-मार्गी पुराने मंदिरों का जीर्णोद्धार करायें अथवा न करायें लेकिन नये-नये मंदिर उपाश्रय बनवाएँ अथवा अच्छी अवस्थावाले मंदिरों मे टाइलें जड़वाने, पत्थर की एवज बिल्लौर और हीरे की मूर्तियाँ बनवाने, उन मूर्तियों पर चाँदी, सोने की एवज रेडियम या उनसे भी महँगी कोई धातु मिलती हो तो उसके अलंकार, आभूषण, खोलें बनवाएं; जो मंदिर को नहीं मानते वे 'दया-पालन' कराएँ, कबूतरों के गोल के गोल छुटवाएँ, अमेरिका आदि देशों को आजकल तो खैर बंदर कम जाने लगे हैं लेकिन जब फिर से उनका निर्यात होने लगे तो उन बंदरों को छुड़वा दिया करें क्योंकि विदेश में बंदरों पर दवा आदि का प्रयोग किया जाता है, जिसमें महान् हिंसा होती है। जो मंदिरों को, दया-पालन को और ऐसी अन्य साधारण बातों को नहीं मानते तथा बड़े ऊँचे सिद्धान्तवाले हैं, वे और किसीके लिए नहीं तो अपने स्वामियों (साधुओं) के लिए ही मामूली सूती कपड़ों की एवज मलमल की चादर आदि बनवाएँ और जब रेवड़ के रेवड़ का मुण्डन-संस्कार हो रहा हो तब छोटे छोटे गड्डुड्डे-गड्डुड्डियों के लिए तो सुन्दर आकर्षक साधु-वेष या सती-वेष बनायें ही पर उस महायज्ञ के लिए एकत्रित होनेवालों को भी देव-दुर्लभ मिष्टान्न और पक्वान्न खिलाएँ; और इसी प्रकार भिन्न-भिन्न संप्रदाय-वाले अपने-अपने भगवान, गुरु, स्वामी या साधु के वचनों के अनुसार उस धन का सदुपयोग कर समस्त श्रावक और श्राविका वर्ग को परम मोक्ष-पद

प्राप्त करने में सहायता दें जिससे समाज अनुपमेय, अतुल, अश्रुत पुण्य का लाभ करे।

द्वितीय

श्रावक-श्राविका और साधु-साध्वी का चतुर्विध संघ अपने उपासना-स्थान में प्रतिक्रमण या सामायिक करने बैठें तो इस बात का ध्यान रखें कि वे ऊपर ही ऊपर के मकान में ऐसा कर रहे हैं। इससे एक लाभ होगा और वह लाभ मामूली नहीं क्योंकि वह जीवन-मरण से सम्बन्ध रखता है। वह लाभ यह होगा कि अगर किसी बंद स्थान में या बहुत नीचे स्थान में धर्म-क्रिया करने बैठे होंगे तो वहाँ हवाई-हमले की सीटी नहीं सुनी जा सकेगी और उसके न सुनने से जीवन-हानि हो सकती है। जो जीवन की इस प्रकार की हानि से नहीं डरते उनके लिए भी इस सीटी का महत्त्व है। अक्सर ऐसी धर्म-क्रियाओं के वक्त श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी वर्ग आँखे मूँदकर ध्यान करते-करते चित्त की आँख को भी मूँद लेते हैं और हाथ की माला, मुँह या हाथ की मुंहपत्ती, मोर-पिच्छी खिसक कर अलग पड़ जाती है तथा मस्तक पीछे दीवार से या आगे जमीन से आलिंगन करने लगता है या अधर में भूतवाष्पित व्यक्ति के मस्तक की भाँति हिलने-डुलने लगता है। गरज यह कि तंद्रा आ जाती है और हवाई-हमले की सीटी से वह तंद्रा बिल्ली के आगे चूहे की भाँति भाग जाती है, चेतना जाग उठती है और धर्मक्रिया-रत हो वह चेतना मोक्ष का बिल ढूँढने में फिर से संलग्न हो जाती है। हवाई-हमले की सीटी सुन सकने के अतिरिक्त एक लाभ और है। वह यह कि अगर हवाई हमला हो ही जाये तथा बम आकर गिरने लगें तो उन बमों को धर्म-क्रिया-रत श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वीगण दूर से ही हटा सकते हैं। वह हटाना मानसशक्ति या चित्त की दृढ़ता से होगा, यह मानना तो आज कठिन है क्योंकि ज़्यादातर इन धर्म के क्रियाकांडों के करने में दिखाऊपन अधिक और

आत्म-विश्वास, चित्त की एकाग्रता तथा शुद्धता कम होती है। लेकिन इस भौतिक युग में भौतिक तरीकों से उन बम के गोलों को हटाया जा सकता है। वह इस प्रकार कि जैसे ही बम का गोला किसीको अपने पास आता दीखे वैसे ही वह व्यक्ति अपने मुँहपत्ति-युक्त, अथवा माला-युक्त, अथवा ओघा-युक्त, अथवा मोर-पिच्छी युक्त अथवा कमण्डल-युक्त अथवा किसी भी वस्तु से युक्त अथवा सर्वथा रिक्त हाथ को ऊँचा उठा उस गोले को दूसरी ओर ढकेल दे और सम्भव है कि इस प्रकार एक-दूसरे के हाथों से ढकेला हुआ गोला किसी नदी, झील, समुद्र, खाड़ी या मैदान में जा गिरे और सबकी रक्षा हो जाय।

ऊपर ही ऊपर के मकान में बैठने का अंतिम और अवश्यम्भावी लाभ यह है कि अन्ततोगत्वा बम का गोला गिर ही पड़ेगा तो मकान के नीचे दबने की नौबत नहीं आयेगी और श्रावक-श्राविका साधु-साध्वी वर्ग टिकेगा भी तो खँडहरों के ऊपर। इस प्रकार युद्ध के दिनों में सावधानी, सजगता और दूरदर्शिता से धर्म-क्रिया करने के लिए संघ को ट्रेण्ड करना एक बड़ा भारी कार्य है जो जल्दी ही किया जाना चाहिये क्योंकि पर्युषण पर्व तेजी से चला आ रहा है। एक बात और। कुछ लोगों को एतराज हो सकता है कि हिन्दुस्तान के किसी नगर पर हवाई हमला नहीं हो सकता क्योंकि अंग्रेज शासक हवाई जहाजों को पहिले ही अरब महासमुद्र, बंगाल की खाड़ी या हिन्द महासागर में डुबो देंगे अथवा हिमालय की चट्टानों में गिरा-कर चूर चूर देंगे। तब फिर ऊपर ही ऊपरवाले मकान में बैठने का क्या उपयोग? इसका उत्तर सीधा और बिल्कुल फिट बैठता हुआ यह है कि ऊपर ही ऊपर के मकान में बैठने से हवा शुद्ध मिलेगी, शुद्ध हवा से चित्त प्रफुल्लित रहेगा, प्रफुल्लित चित्त से धार्मिक क्रिया-काण्ड के साथ अपने व्यापार, लेन-देन आदि की बातें सोचने में भी सुविधा रहेगी और गुरु-वचन के अनुसार गाथाएँ चढ़-चढ़ाते जाने में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचेगी, तथा इस प्रकार धर्म-क्रिया के साथ व्यापारादि के विचारों में गति रहने से परमार्थ और स्वार्थ दोनों की सिद्धि एक साथ होगी अर्थात् इस

संसार में तो सुख की वृद्धि होगी सो होगी ही, मोक्ष भी प्राप्त करने में बाधा पहुँचेगी। ऊपर ही ऊपर के मकान में धर्म-क्रिया करने का एक लाभ यह भी है कि जैसे जल में कमल ऊपर रहता है वैसे ही पापियों, बीमारों, मजदूरों, गरीबों, संसार के जाल में फँसे लोगों की दुनिया नीचे रहेगी और साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका का वर्ग कमलवत् ऊपर ही ऊपर के मकान में रहेगा। सब बातों का रहस्य तो यह है कि ऐसी क्रियाओं के लाभ आदि गिनाने से कुछ नहीं होता। ये तो अनुभव करने की बातें हैं और इनका अनुभव करके ही इनकी उपयोगिता अच्छी तरह जानी जा सकती है। किसीको ऊँचा मकान न मिले तो उसे चाहिये कि वह हवाई-हमले के बचाव के लिये बनाई गई खाइयों में धर्म-ध्यान करे ताकि उसमें कोई बाधा न पहुँचा सके।

तृतीय

●

पर्युषण पर्व के आठ दिनों में धर्म-श्रद्धा, देव-आस्था और गुरु- भक्ति या गुरु-सेवा बहुत अधिक जाग्रत होती है। तब अपने-अपने सम्प्रदाय वालों में ऐसी कुछ धार्मिक-भावनायें तथा धर्म-क्रिया करते रहने की वृत्ति भर देनी या जाग्रत कर देनी चाहिये जिनके अनुसार आचरण करके वे वर्ष भर मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर हो सकें। इसके लिए विशेष रूप से प्रयत्न होना चाहिये। जैसे एक सम्प्रदायवाले धार्मिक पुरुष-स्त्री या साधु-साध्वी गण अपने कुछ सहधर्मियों या श्रावकों को वर्ष भर के किये ऐसा व्रत दिलवा सकते हैं कि वे झूठ न बोलें अर्थात् वे अपने निमित्त, व्यापार-व्यवसाय के निमित्त तो कठिन अवस्था में झूठ बोल लें, परन्तु मानवता, प्राणि-रक्षा अथवा अन्य किसी अपरिचित व्यक्ति आदि के लिये या उनके निमित्त झूठ न बोलें। इसी तरह कुछ को कोई भी सम्प्रदाय यह व्रत दिला सकता है कि वह मरी हुई मक्खी को घी, दूध, मक्खन, साग-भाजी, में से निकाल दें, चाहे जीती हुई मक्खी को साफ ही निगल जायँ। कम-से-कम

उसे भी जीने दें, इस सम्बन्ध में उसे कोई व्रत न दिलाया जाय। एक
व्रत यह दिलाया जा सकता है कि प्रति दिन स्वामीजी या साधुजी, या
मुनिजी या देवता के दर्शन एक बार जरूर किये जायँ, चाहे वे स्वामीजी,
साधुजी, या मुनिजी मूर्खाधिराज हों, व्यभिचारी हों, स्वयं द्वेषी हों और
द्वेष-भाव फैलानेवाले हों, धर्म और धर्माचरण से अनभिज्ञ हों और तीखी-
तेज आँखोंवाले होने पर भी उनके मानस-चक्षु बन्द हो गये हों, अथवा
जिस देवता के दर्शन का व्रत दिलाया जा रहा हो उस देवता का निवास-
गृह व्यभिचार का अड्डा, कथित भक्तों का युद्ध-स्थल, पूँजीपतियों का
पड़ाव, आडम्बर का मूर्त रूप तथा सात्विक वृत्ति, मन की सरलता,
आत्म-शुद्धि को जागृत न कर रागद्वेष, लोभ, अमर्यादा और प्रवंचना-वृत्ति
को बढ़ाने वाला ही हो। एक व्रत यह दिलाया जा सकता है कि श्रावक
या श्राविका उठते-बैठते, शौच जाते या पेशाब करते, खाते-पीते, चीज का
क्रय-विक्रय करते, सोते-जागते अर्थात् प्रत्येक क्षण और प्रत्येक पल हाथ में
माला रखे और 'ॐ, अर्हं नमः' का जाप करता रहे, चाहे उस माला
के मनके घुमाते वक्त 'ॐ अर्हंनमः' की जगह "ॐ स्वर्णः नमः" "ॐ
सुरा नमः" "ॐ सुन्दरी नमः" इत्यादि उच्चाशयी और ऊर्ध्व लोक में
पहुँचानेवाले वाक्यों को रटने का वह आदी हो और निरन्तर यह ही
करता रहता हो। इसी प्रकार अनेक व्रत दिलाये जा सकते हैं,
अनेक प्रतिज्ञाएँ दिलाई जा सकती हैं, अनेक प्रतिज्ञाएँ ली जा सकती हैं
और किसी-किसीको पूरे बारह व्रत धारण कराकर परमोत्तम श्रावक या
श्राविका बनाया जा सकता है। ऐसा व्रत या ऐसे व्रत ग्रहण कराते
समय या ऐसी प्रतिज्ञा अथवा प्रतिज्ञाएँ दिलाते समय व्रत ग्रहण
करानेवालों अथवा प्रतिज्ञा दिलानेवालों के ध्यान में रखने की एक
बात यह है कि वे सिर्फ यह देखें कि सबसे अधिक चेले किसने
मूँडे। अर्थात् व्रत या प्रतिज्ञा लेनेवाला अपने व्रत या अपनी प्रतिज्ञा को
समझे या न समझे, वह उसके योग्य पात्र हो या नहीं, उससे उसका दो
दिन भी निर्वाह हो सकता हो या न हो सकता हो, उस व्रत या प्रतिज्ञा से

वह दंभ करके धर्म और जाति, गुरुदेव और गुरु-वचनों का उपहास कराने वाला ही हो, पर क्योंकि व्रतियों और प्रतिज्ञा-बद्ध श्रावकादि की संख्या अधिक से अधिक अपने खाते में बतानी है, अतः व्रत ग्रहण कराया जाना चाहिये, प्रतिज्ञा लिवाई जानी चाहिये। इससे जैन धर्म की वह वृद्धि होगी कि अगली आनेवाली जनगणना में जैनियों की संख्या सर्वोपरि हो जायेगी।

चतुर्थ

•

समस्त जैन समाज के जितने भी सम्प्रदाय भेद-विभेद, पंथ-विपंथ हैं उनके समस्त साधु, मुनि, स्वामी तथा साध्वी-मुनिनी, सती वर्ग को एक सर्वदल साधु-सम्मेलन (अथवा निर्दल साधु-सम्मेलन क्योंकि जो सर्वदल है, वही निर्दल है!) आपस की सामान्यता के लिये नहीं, बल्कि इस उद्देश्य से कायम करना चाहिये कि वह पर्युषण पर्व के दिनों में जो श्रावक-श्रावकादि को साधु-समाज के व्याख्यान-सुधा से वंचित रख इतर धर्मावलम्बियों अथवा धर्मच्युत जैन आचार्य पण्डितों आदि के व्याख्यान में खींच ले जाने की आजकल प्रथा जोर पकड़ रही है उसका घोर विरोध कर सके और डूबती हुई धर्म—नौका को सतह पर रोक सके। बम्बई, कलकत्तादि में पर्वाधिराज पर्युषण पर्व के पवित्र अवसर पर कुछ बाबू पार्टीवाले और कथित सुधारवादी सफेद पोशी अथवा विकृत मस्तिष्कवाले, गांधी के अन्धानुयायी जिन व्याख्यानों की आयोजना करते हैं उससे जैन-धर्म का अस्तित्व, विकास और प्रभाव खतरे में पड़ गया है। भला! इसका क्या मतलब और ऐसा किस शास्त्र, किस सूत्र और किस गाथा में लिखा है अथवा किस तीर्थंकर, देव, महादेव या देवी ने कब कहा था कि साधु-मुनिराज के दर्शन न कर के, स्वामी-सतियों के वचनामृत का पान न कर के, स्थानकों में दया न पालकर, मंदिरों में क्षेत्रपाल, भगवान वीतराग

और भगवती चक्रेश्वरी के दर्शन से जन्म-जन्म को सफल न बनाकर, कल्पसूत्र की गाथा, चौदह स्वप्नों की वार्ता, जन्म-कल्याणक की कथा आदि न सुनकर, कलशमहोत्सव, धूप-दशमी और पौषध-प्रतिक्रमण के समारोह में सम्मिलित न होकर जैन श्रावक और श्राविकाएँ विधर्मियों या धर्म के कैम्प में से निकाले हुए जैनियों के व्याख्यान सुनने जाएँ। लोगों की इस पतनशील प्रवृत्ति को यदि तुरंत न रोका जायगा और उसके हृदय को मुनिमहाराज और मन्दिरों के दर्शन, शास्त्रों के श्रवण, पौषध-प्रतिक्रमणादि क्रिया तथा बारह व्रत के पालन आदि की ओर वापस खींच कर नहीं ले जाया जायेगा तो वास्तविक जैन धर्म और खास भगवान के श्रीमुख से निकले हुए वचनों के लोप होने में देर नहीं लगेगी; और धीरे-धीरे गत कई वर्षों और महीनों से जैनियों की, जो संख्या बढ़ रही थी, वह बढ़ना तो दूर, बिल्कुल शून्याकाश में लीन हो जायगी। यह साधारण सी बात नहीं है और समग्र साधुओं को कम-से-कम इस पुण्यमय मोर्चे में दल-बन्दी, साम्प्रदायिकता, मौर-पिच्छी, नग्नता, श्वेताम्बर, रक्ताम्बर, छोटी-बड़ी मुँहपत्ती या दण्ड के ग्रहण आदि को नहीं बल्कि उनके आग्रह को छोड़कर अपने-अपने शस्त्रास्त्रों के साथ दृढ़ चित्त से अपने आपको बलिदान कर देना चाहिये। 'यतो धर्मस्ततो जयः'।

ये सुझाव !

●

उपर्युक्त चतुर्विध कार्य-क्रम की भाँति और अनेक-विध कार्य-क्रम बनाये जा सकते हैं जो इस पर्युषण-पर्व में नहीं तो आगामी में और आगामी में नहीं तो उससे आगे आनेवाले में या उससे भी कई गुणित वर्षों बाद आनेवाले या शनैः शनैः इस बार से लेकर अनन्त काल तक आने और जानेवाले पर्युषण-पर्वों के पवित्र दिनों में पूरे किये जा सकते और अंजाम

दिये जा सकते हैं। विचारशील श्रावकों तथा श्राविकाओं और दृढ़-चित्त धर्म-वीर साधु, मुनिराज, स्वामीगण को चाहिए कि इसी प्रकार का बहुमुखी कार्य-क्रम वे बनाएँ या जो सद्भावना तथा सदिच्छा से प्रेरित होकर और जैन धर्म के प्रति उनकी जो प्रगाढ़ श्रद्धा है उससे अभिभूत होकर इस तरह की योजना और प्रवृत्तियाँ सामने रखें, उन्हें तन-मन-धन से पूरी कर दिखाएं। इस बार मैंने जो कार्य-क्रम रखा है उस पर सम्मति आदि माँगकर या संशोधन-परिवर्धन के लिये सुझाव माँगकर व्यर्थ में समय नहीं खोना चाहता और मैं चाहता हूँ कि जिन्हें कुछ करना हो, वे तैयार होकर कार्य-क्षेत्र में कूद पड़ें और ननुनच किये बगैर अपनी पूरी शक्ति से कुछ न कुछ कर दिखाएँ। जिन्हें कुछ करना नहीं है और जो केवल सम्मतियाँ देते और कार्य-क्रम तथा योजनाओं में कमियाँ निकालते हैं उनके लिए कुछ कहने-करने की गुंजाइश मैंने पहिले ही नहीं रखी है। मैं स्वयं भी और बहुतसी योजनाएं हमारे वर्धमान और प्रगतिशील जैन समाज के सन्मुख रखता लेकिन आज अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति जिस प्रकार से गंभीर हो रही है तथा हमारे देश में ही जैसी विषमता प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त हो रही है उन सबको दृष्टि में रखते हुए बहुत छोटा कार्य-क्रम रखना उपयुक्त समझता हूँ। अतीत, वर्तमान और भविष्यके तीर्थंकर तथा अन्य-अन्य सब क्षेत्रपाल, नेत्रपाल, वेत्रपाल, चक्रेश्वरी आदि देवी-देव, श्रद्धालु श्रावक श्राविकाएँ जो 'धर्म के कारणे' ही जीते-मरते हैं उन साधु-मुनि-स्वामियों तथा साध्वी-मुनिनी-सतियों को कार्य-रत रहने और सफलता पाने में अपनी अव्यक्त शक्ति से समुचित प्रेरणा दें।

'सर्व मङ्गल माङ्गल्यं, सर्वकल्याण कारणं।
प्रधानं सर्व धर्माणां, जैनं जयति शासनम्।'

'तरुण जैन'
अगस्त १९४१

'बखाण' और 'पचखाण'

चूँकि समाज साधुओं की भोजन और वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, इसलिए साधुओं को भी बदले में समाज को कुछ देना ही चाहिए, यह नियम मानकर साधु हमें देते हैं—"बखाण" और "पचखाण"। इन दोनों बातों का दान कर वे हमारा ही कल्याण नहीं करते, बल्कि अपना भी कल्याण साधते हैं। मुख्य दृष्टि तो उनके अपने ही कल्याण की है। जो भी हो, समाज के लिए आज ये दोनों बातें धर्म-साधना के दो मुख्य स्तम्भ हो गयी हैं। इन्हीं दोनों के ताने-बाने से वह चादर तैयार होती है, जिसको ओढ़कर सच्चा जैन धर्मावलम्बी कहा जा सकता है। जैन समाज में जन्म लेनेवाला तो शायद ही कोई मनुष्य मिले जो "बखाण" और "पचखाण" की महिमा न जानता हो। और कुछ जाने या न जाने, पर इन दोनों को तो खूब अच्छी तरह जानता ही होगा।

वर्णन

इन "बखाणों" में हमारे लिए आध्यात्मिक भोजन परोसा जाता है; तप, त्याग और वैराग्य की कहानियाँ कही जाती हैं। हाँ, कहानी के पात्रों को जब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता और वे संसार को नहीं छोड़ देते, तब तक के उनके सांसारिक कार्यकलाप का भी खूब वर्णन होता है। खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन, और भोग-विलास के ऐसे आत्यन्तिक वर्णन

किये जाते हैं, कि यह भी पता नहीं रहता कि हम त्याग का उपदेश सुन रहे हैं या भौतिक सुखों का मनोमुग्धकारी वर्णन ! जैसे शृङ्गार रस की अश्लील कविता करनेवाला कवि भी कृष्ण और राधा के उदात्त चरित्रों का सहारा लेने के बाद निश्चिंत हो जाता है, वैसे ही ये साधु अन्त मे मनुष्य को कैसे वैराग्य की उत्पत्ति हुई और उससे क्या-क्या शुभ फल उसे मिले, यह समझाने के लिए उसके धन-वैभव ठाट-बाट और स्त्रियों के साथ के भोग-विलास का किसी भी सीमा तक का वर्णन करने में अपने को निर्दोष मानते हैं। पूरा-पूरा तो साक्षात् अनुभव करने पर ही मालूम हो सकता है कि ये वर्णन कैसे होते हैं, इनसे मनुष्यों में किन भावों की जागृति होती है, और इनका परिणाम "वखाण" में आनेवाले कच्ची उम्र के बालक-बालिकाओं या युवक-युवतियों पर कितना और किस रूप में होता है तथा चारित्र्य की दृष्टि से इन वर्णनों का व्यक्ति और समाज के नैतिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। कोई भी आलोचक इस प्रभाव का ठीक-ठीक विश्लेषण नहीं कर सकता है और उसके द्वारा किये हुए विश्लेषण को शायद अतिरंजनायुक्त भी समझा जाय, इसलिए पाठकों को स्वानुभाव से ही काम लेना चाहिए।

स्वरूप

ये "वखाण" प्रायः सुबह के समय तो हर कहीं, जहाँ साधु विराजते हैं, होते ही हैं, पर कहीं-कहीं और कभी-कभी दोपहर में तथा संध्या को भी "वखाण-वाणी" सुनने का भव्य श्रावकों को सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। विभिन्न संप्रदायों के "वखाणों" में भाषा, शैली और विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से कुछ-कुछ अन्तर तो हुआ ही करता है। इन "वखाणों" में कुछ लोग तो 'वचनों के बंधे' आते हैं, कुछ लोक-लज्जा के कारण आते हैं, कुछ धार्मिकता का प्रदर्शन करने आते हैं, कुछ और कोई काम नहीं रहने के कारण अपना समय काटने को आ

जाते हैं, कुछ दिलचस्प किस्से-कहानियों के लोभ से आते हैं, और कुछ उपदेश लेने की भावना से भी आते ही होंगे। और संप्रदायों के बारे में तो मुझे इतना मालूम नहीं, पर जिस सम्प्रदाय के गुरुओं की मान्यता मेरे घरवालों की है, उनके "वखाण" में तो स्त्रियों की संख्या ही विशेष होती है। ये गुरु उनकी संख्या बढ़ाने के लिए हर तरह से उनको बढ़ावा दे-देकर प्रोत्साहन भी दिया करते हैं। यह तो मैंने कितनी दफा सुना है कि "साँचो धर्म बायाँ कने ही रयो है।" इतना बड़ा गौरव पाकर तो ये "बायाँ" धर्म की ध्वजा को आकाश में चढ़कर रोपना चाहती हैं। "वखाण" में जाना और "पचखाण" लेना इन दो ही बातों के लिए मानो उनका जीवन हो जाता है। घर में चाहे बूढ़े माता-पिता या सास-श्वसुर बीमार पड़े वेदना से व्याकुल हो रहे हों, छोटे-छोटे गोदी के बच्चे भूख के कारण बिलबिला रहे हों, पर हमारी "बायाँ" वखाण में गये बिना नहीं रह सकतीं। और वखाण में जाकर भी ये वहाँ कहे जानेवाले किस्से-कहानी भी तो नहीं सुनतीं, नहीं सुन पातीं। इनके बीच में तो दूसरा "वखाण" चलता रहता है—नये-नये डिजाइनों के वस्त्रों और आभूषणों की प्रदर्शनात्मक चर्चा की जाती है; अमुक के लड़के और अमुक की लड़की की सगाई और विवाह की चर्चा की जाती है; रिश्तेदारी और पास-पड़ोस व गाँव में किसने कितना कमाया, किसने कितना खोया, किसने नई हवेली बनायी, किसने हवेली में नये महल बनाये, किसके बेटे-बेटी और नाती-पोते हुए, किसने अपने बेटे-बेटी के विवाह में ज्यादा खर्च किया, किसने कम किया; किसके पति परदेश से आ गये और किसके गये या जानेवाले हैं, इन सब बातों का वेद-वाचन परदे के पीछे या बिना परदे ही चलता रहता है। चाहे इनके कर्ण-विवरों में आकर कभी-कभी निनादित होनेवाली धर्मवाणी संसार का स्पर्श करके अपने को अपवित्र न करनेवाली हो, पर ये "वखाण" सुननेवाली और धर्म को बचानेवाली "बायाँ" तो अपना संसार भी वहाँ साथ ही ले जाती हैं। पता नहीं, इस संसार से "धर्म के ठिकाने" संस्पर्शित होते

हैं या नहीं। और तो और, रात्रि के 'वखाण' में भी 'बायों' के झुण्ड के झुण्ड वहाँ पहुँचते हैं, जहाँ साधु रहते हैं और "वखाण" होते हैं। मैंने सुना है कि मेरी सम्प्रदाय में ही स्त्रियों को इतनी आजादी (!) मिली हुई है, दूसरी सम्प्रदाय के साधुओं के 'ठिकाने' पर रात में स्त्रियाँ नहीं जा सकतीं। पर यह आजादी केवल साधुओं के ठिकाने जाने की ही है, क्योंकि वहाँ 'ऋषिराज ऋषीश्वर' का वास है, जहाँ धर्म के सिवाय और कोई वस्तु टिकने ही नहीं पाती। पाप को भी वहाँ धर्म के नाम पर और धर्म के वेष में ही गुजर करनी पड़ती है।

और पुरुष तो जिस सावधानी से "वखाण" सुनते हैं, उसका परिचय भी उसी वक्त देते रहते हैं। महाराज के प्रत्येक शब्द पर 'तहत्तवाणी' और 'भली फरमावणी' के उद्घोष प्रकट किये जाते हैं। जब महाराज अपने से दूसरी संप्रदायों के सिद्धान्तों, साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं की निन्दा करना शुरू करते हैं, तब तो 'घणीखमा' और 'तहत्तवाणी' का ताँता ही लग जाता है। महाराज की वाणी के साथ-साथ श्रावक भी अपने संप्रदाय के अभिमान से मन ही मन नाचने लगते हैं। आधा वखाण तो दूसरी संप्रदायों और दूसरे धर्मों की निन्दा करना ही होता है। जो आधा बाकी रहता है, उसमें दिलचस्प किस्से और वर्णन भरे होते हैं।

नया पुराना

•

इन "वखाणों" में कोई नवीनता नहीं होती, ये वर्षों से चली आती हुई परम्परा की चीजें हैं। नवीनता और परम्परा-त्याग में धर्म का विरोध होता है, इसलिये उन्हें पास ही नहीं फटकने दिया जाता। पुराने जमाने के साधुओं और यतियों के जो "वखाण" तैयार किये हुए हैं, उनमें अपने-अपने संप्रदाय की मान्यताओं के अनुसार हेर-फेर करके (यह

उन व्याख्यानों के रचयिताओं के प्रति कितना बड़ा अन्यायी है?) हर रोज हर घड़ी चलाया जाता है। जिन्होंने नये ज्ञान और अनुभव के आने के द्वार ही बन्द कर दिये, वहाँ नई बात आये भी कैसे? जो कीटाणु अन्धेरे में, गंदगी में और सड़न में ही रहना चाहते हैं, वे फिर चाहे रोग क्यों न उत्पन्न करें, पर शुद्ध वायु और प्रकाश उन्हें कभी पसन्द नहीं आता।

व्रत-नियम

●

"वखाण-श्रवण" के समान ही, वल्कि इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण धर्म-कार्य है—"पच्चखाण-ग्रहण।" "पच्चखाण" का मतलब यही होगा और हो सकता है कि मनुष्य पाप-कार्य से बचे, इसके लिये बुरे कामों में लिप्त न होने की प्रतिज्ञा करे। जीवन-शुद्धि के लिये जो आवश्यक व्रत-नियमादि बताये गये हैं, उनका पालन करे। ठीक इस बात को समझकर यदि कोई "पच्चखाण" करता है या कराता है, तो मैं उसे बुरा नहीं समझता पर आज तो न जीवन-शुद्धि का प्रश्न है, न विवेक और विचार का सवाल है, बस धर्म के नाम पर विकृतियों और कृत्रिमताओं का घटाटोप छाया हुआ है। हरे शाकादि न खाने का, रात्रि में भोजन न करने का और पानी न पीने का, हमेशा गर्म जल पीने का, उपवास आदि क्रम से तपस्या करने का, साधुओं के दर्शन करने का, दूसरी संप्रदाय के साधुओं को न मानने का, सामायिक-प्रतिक्रमण करने का और ऐसी ही न मालूम कितनी-कितनी बातों का "पच्चखाण" कराया जाता है, जो जीवन-विकास और जीवन-शुद्धि की जागरूकतापूर्ण प्रेरणा के अभाव में निरर्थक और निष्फल ही नहीं, हानिकर भी हैं। बिना इस बात को सोचे कि अमुक व्यक्ति कैसे वातावरण में रहता है, किस तरह का कार्य वह करता है, शारीरिक अवस्था उसकी कैसी है, भावना वह कैसी रखता है, उसको यदि हरे शाकादि का निषेध करा दिया जाय तो उसको मौत के रास्ते पर लगाना है। गर्भवती स्त्री को या जिसकी गोद में २-३ महीने का बच्चा

है, उसको "अठाई" का "पच्चखाण" कराना चाहे शास्त्रों की दृष्टि से निरापद समझा जाय, पर जीवन की दृष्टि से और विवेक की आँखों से वह आपत्तिजनक है। इसी तरह और भी बहुत से "पच्चखाणों" के विषय में यही हालत है।

न ये "बखाण" और न "पच्चखाण" आज की समस्याओं से, जिनके द्वारा सारा जीवन घिरा हुआ है, कोई सम्बन्ध रखते हैं। या तो ये स्वर्ग की बातें करते हैं या नर्क की। इन नर्क और स्वर्ग के वर्णनों में ही सारा धर्म शेष हो जाता है। पर जिन समस्याओं का जीवन के साथ ऐसा सम्बन्ध है, कि वह टूट नहीं सकता और टूटेगा तो जीवन भी टूट जायगा, उनको छोड़ा कैसे जा सकता है? "धर्म" चाहे तो उनको छोड़-कर अपनी साधना अलग करता फिरे, पर धर्म को आज या कभी भी जीवन के साथ कोई सम्बन्ध रखना है, तो उसे इन समस्याओं के साथ नाता जोड़ना ही पड़ेगा। जो इनके सच्चे निराकरण में योग देगा, वही भविष्य का धर्म होगा। आज के "बखाण" हिंसा की जो दावाग्नि देश की और समस्त संसार की छाती पर जल रही है उसको शांत करने के क्रियात्मक उपायों पर होने चाहिये। जो जाति-विग्रह, सामाजिक कलह, और शोषण का नाशकारी चक्र चल रहा है, उससे मानवजाति को कैसे बचाया जाय, इन प्रश्नों पर "बखाण" होने चाहिए। आज ऐसे "पच्च-खाणों" की जरूरत है, जैसे जीवन-व्यवहार में से जाति-भेद को दूर करना, केवल ऐसी ही प्रवृत्ति में भाग लेना जिसमें कम से कम हिंसा हो, अपने लिये आवश्यक श्रममूलक प्रवृत्तियाँ मनुष्य स्वयं अपने हाथ से करे, आदि।

आह्वान !

•

ओ "बखाण" देनेवालो और "पच्चखाण" करानेवालो, यदि अपने 'बखाणों' और 'पच्चखाणों' को युग की आवश्यकता के अनुकूल

नहीं बना सकते, उनमें परिवर्तन नहीं कर सकते, तो क्या उनको सदा के लिये सुरक्षा की पेटी में बन्द करके भी नहीं रख सकते ? जीवन की प्रगति में तुम योग नहीं दे सकते, पर क्या उसमें बाधक होने से भी बाज नहीं आ सकते ? विवेक की तुम नहीं सुन सकते, पर क्या अविवेक फैलाना भी नहीं छोड़ सकते ? समाज और राष्ट्र को जीवन तो तुम नहीं दे सकते, पर मौत भी तुम क्यों देते हो; उसका मार्ग तुम साफ नहीं कर सकते, पर उसमें गंदगी और सड़न भी पैदा क्यों करते हो; नेत्रों का दान तुम उसे नहीं दे सकते, तो उसकी आँखें बंद करने से ही शर्म खाओ; उसकी बुद्धि को विशाल नहीं बना सकते, तो कम से कम उसे संकीर्ण भी तो मत बनाओ। जीवन के वरदान तुम नहीं बन सकते, तो अभिशाप बनना तो छोड़ो। निर्माण करने की ताकत तुम में नहीं तो संहार करना तो बंद करो। हित की नहीं बोल सकते तो बोलने से भी बाज नहीं आ सकते ?

'तरुण जैन'
दिसम्बर, १९४१

संसार से निवृत्ति

हमारे धर्म और समाज की अवनति और पतन के कारणों में हमारे साधुओं और मुनियों के वे उपदेश मुख्य हैं, जिनके बारे में मैं पिछले अध्यायों में बराबर आलोचना करता आया हूँ। मैंने बार-बार सोचा है कि हमारे साधु-समाज का जीवन इतना संकीर्ण, इतना लक्ष्यहीन, इतना निष्क्रिय, और इतना आडम्बरमय किन कारणों से हुआ है ? मैं जितना सोच सका हूँ, उससे इसी निश्चय पर पहुँचा हूँ कि साधु-समाज में और उनके मार्फत श्रावक-समाज में जो भयानक विकृतियाँ उत्पन्न हुई हैं, उनका मुख्य कारण साधुओं द्वारा समझी और प्रसारित की हुई 'संसार से निवृत्ति' की व्याख्या है। यह कहकर कि जैन धर्म में निवृत्ति को ही परमधर्म माना है, वे रात-दिन अपने अनुयायियों को संसार से निवृत्त होने का ही उपदेश दिया करते हैं। 'यह संसार असार है, पाप का मूल है, इसको छोड़ने से ही धर्म की प्राप्ति होती है तथा उससे ही आत्मा को मुक्ति मिलती है।' यही उनके उपदेश का सार होता है। मैंने वर्षों तक श्रद्धा के साथ इस तरह के उपदेशों को सुना है, और जिन्होंने संसार से निवृत्ति ग्रहण कर ली है, ऐसे मुनियों के जीवन को भी निकट से देखा है पर मेरे मन पर इस उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ा— और अगर पड़ा है तो उलटा ही। संसार से निवृत्त होने का हमारे मुनियों ने जो अर्थ किया है और जिसके अनुसार वे अपना जीवन बिताते हैं, वह अत्यन्त निराशाजनक है। यह ऐसी निवृत्ति है, जिसका कोई उद्देश्य नहीं है। इस तरह की जीवन-शून्य निवृत्ति को ही अगर परमधर्म

माना जाता है, तो आत्मघात करके भी जल्दी से जल्दी निवृत्ति प्राप्त की जा सकती है। 'न होगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी'—'न रहेगा शरीर, और न होगा कर्मों का बंधन।' संसार चाहे हमारे मिटाये न मिट सके, पर शरीर को तो हम मिटा ही सकते हैं। आज हमारे मुनियों ने निवृत्ति के बदले में निकम्मेपन को धर्म के नाम पर अंगीकार किया है, यही सबसे ज्यादा दुःख और शर्म की बात है। निवृत्ति के नाम पर वे संसार के सारे कर्तव्यों पर—मानवधर्म के सारे अंगों पर आँख मूंद लेते हैं।

असामंजस्य

जब एक तरफ तो जैन धर्म की यह महिमा गायी जाती है कि वह विश्वधर्म है, उसमें सारे संसार का सुख निहित है, वह सारी मानवजाति के कल्याण का मार्ग है; और दूसरी तरफ हमारे मुनि और साधु विश्व को कुछ समझते ही नहीं, संसार से धर्म का कोई वास्ता ही नहीं समझते, संसार के सुख-दुख का कोई लेखा ही नहीं लेते, बल्कि उसके लिए किये जानेवाले कार्यों को पाप की श्रेणी में, नरक में ले जानेवाले मार्ग के कारणों में बताते हैं, तो विवेकशील लोगों को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। मैं समझता हूँ कि प्रत्येक धर्म का उद्देश्य यही है कि संसार की वेदना कम की जाय, चारों तरफ फैली हुई हिंसा-प्रतिहिंसा की दावाग्नि को शांत किया जाय, मानवजाति का उत्तरोत्तर विकास हो और उसमें प्रेम, भ्रातृभाव और मैत्रीभाव पैदा हों। जैन-धर्म का भी उद्देश्य यही है। उसने निवृत्ति पर जो जोर दिया है, उसके माने यह नहीं है कि धर्म के डरसे अछूत की तरह संसार को छोड़ दिया जाय—उसके किसी कर्तव्य और उत्तरदायित्व की अपेक्षा न की जाय। संसार है और रहेगा, और उसके प्रति हमारा कर्तव्य है। संसार से निवृत्ति लेने का मतलब संसार से विमुख होना नहीं है, बल्कि 'तू और मैं' की भावना से मुक्त होना है। निवृत्ति का

यह अर्थ करना कि किसी मरते हुए को बचाने में भी धर्म नहीं, भूखे को भोजन और प्यासे को पानी देने में भी धर्म नहीं, रोगी और पीड़ित की सेवा में धर्म नहीं, शिक्षालय और औषधालय बनाने में धर्म नहीं, सरासर गलत और जैन धर्म को लोगों की निगाह में हास्यास्पद बनाने-वाली बात है।

स्वस्थ-दृष्टि

●

सच्चा धर्म यह है कि जहाँ तक लेने का सवाल है, हम संसार से कम से कम, केवल इतना ही जिसके बिना हमारा जीवन असंभव है, लें; पर देने में ज्यादा से ज्यादा, यानी इतना जिससे ज्यादा देना संभव ही नहीं हो, दें। निवृत्ति का अर्थ यह है कि हम सारे स्वार्थों से विरक्त हो जायँ, और इस प्रकार प्राप्त की हुई निवृत्ति का फल तब होता है, जब हम अपने इस निस्वार्थ जीवन को सारे संसार के सुख-दुख के साथ एक कर दें। मैं बार-बार कहना चाहता हूँ कि अगर निवृत्ति से कोई धर्म मिलने वाला है, तो उसका जरिया प्रवृत्ति है, जिसमें किसी प्रकार के स्वार्थ की गुलामी नहीं है। जो निवृत्ति सब प्रकार की प्रवृत्तियों का निषेध करती है, वह मानव की आत्मा को छोटी, संकीर्ण और पंगु बनाती है और आत्मघात का रास्ता दिखाती है। धर्म संसार से है; पाप भी संसार से है। संसार के बिना दोनों ही कुछ नहीं हैं, दोनों का कोई प्रयोजन नहीं है। आत्मा को मैं भूला नहीं हूँ पर आत्मा की अभिव्यक्ति भी संसार के बिना नहीं हो सकती।

अब निवृत्ति के नाम पर यह अकर्तृत्व और अकर्मण्यता का नाटक बंद होना चाहिए; यह निष्क्रियता का जीवन जिसे साधुत्व और मुनित्व का नाम दिया गया है, समाप्त होना चाहिए। जीवन को वास्तविक समझ-कर उसके विकास के लिए रचनात्मक सेवा का कार्यक्रम धर्म को मंजूर होना चाहिए।

चेतावनी

•

'मित्ति मे सव्व भूयेसु' की रटन करनेवाले साधुओ और मुनियो, संसार में आज नाना भाँति की विषमता और शोषण की ज्वालाएँ धधक रही हैं, सारी मानव-जाति विनाश की ओर जा रही है, दर्द और दारिद्रय ने दुनिया के बहुत बड़े जन-भाग को तहस-नहस करने की तैयारी की है। तुम्हारा धर्म है कि तुम इन दुखों को दूर करो, अन्यायों को मिटाओ और सबके सुख का सच्चा प्रयत्न करो। तुम्हारा कर्तव्य इतना ही नहीं है कि तुम खुद किसीके लिए दुख के कारण न बनो, पर तुम्हारा यह भी कर्तव्य है कि तुम दूसरों के दुखों को दूर करो। अगर तुम यह न करो, तो तुम्हारी निवृत्ति, तुम्हारा साधुत्व नाटक के पात्र का है। अब वक्त नहीं है कि तुम धोखे में रहो, दुनिया को धोखा दो और निवृत्ति के नाम पर अकर्मण्यता का जीवन बिताओ। समझ लो, जब तक तुम जीते हो, खाते हो, पीते हो, पहनते हो, लोगों को उपदेश देते हो, तब तक संसार तुम्हारा है और तुम संसार के हो। संसार की सेवा किये बिना तुम अपना विकास नहीं कर सकते।

'तरुण जैन'
फरवरी, १९४२

जैन समाज में आज आचार्यों की संख्या हजारों में नहीं, तो सैकड़ों में तो होगी ही। और यह कहने की तो जरूरत ही नहीं है कि सब आचार्य एक ही ओहदे के नहीं हैं। असल में, जितने आचार्य हैं, उतने ही ओहदे भी हैं। और जैसे सरकारी महकमों में जब कोई किसीको खास जगह देना चाहता है, तो उसके लिए एक नया ओहदा बना देता है, वैसे ही जैन समाज मे भी जब जिसके मन में आता है, किसीको भी आचार्य बना दिया जाता है। आचार्य होने या बनाने में कुछ लगता थोड़े ही है! लोगों ने आचार्य शब्द को रगड़-रगड़कर इतना मुर्दा बना दिया है, कि उस बिचारे शब्द में अब इतनी ताकत भी नहीं रह गयी कि वह विद्रोह कर सके। सैकड़ों-हजारों वर्षों से गुलाम बने हुए व्यक्ति की तरह आचार्य शब्द का सारा चैतन्य चला गया है; वह चूँ भी नहीं करता। और आचार्य शब्द तो है ही क्या चीज, जब कि दुनिया के किसी भी विशेषण को ये आचार्यगण 'आचार्य' की तरह ही हथिया लेते हैं अथवा उनके भक्तगण उन्हें दे देते हैं। अब तो आचार्य शब्द भी इतना छोटा हो गया है कि १००८ बार आचार्य शब्द नाम के पहले लिखने पर भी हमारे आचार्यों का मन नहीं भरता। अब दूसरे-दूसरे विशेषण ढूँढ़े जाते हैं और उनकी संख्या बढ़ती ही जाती है। मात्र इन सारे विशेषणों को एकत्रित कर अगर हम एक पुस्तिका छपायें, तो वह एक खासा अच्छा विशेषण-कोष हो सकता है। उदाहरण के लिए हम एक आचार्य के नाम के पहले लिखे हुए विशेषणों की तालिका यहाँ देते हैं। वह

तालिका इस प्रकार है—"परम पूज्य परमेश्वर, ऋषिराज ऋषीश्वर, तीर्थंनाथ तीर्थेश्वर, विमल ज्ञानाधार, शासण-श्रृङ्गार, इन्द्रियाँ दमनहार, स्वयम्भू समगम्भीर, सुमेरु सम धीर, उज्ज्वल गङ्गनीर, क्षमासागर, गुणागार, अमृतनागर, पर-उपकारी, उग्र विहारी, अतिशयधारी, बाल ब्रह्मचारी, शील-सिन्धु, दीनबन्धु, पाखण्ड-निकन्दु, भव्य-जन-तारक, दुर्गतिपन्थनिवारक, विघ्नविदारक, चिंताचूरणमणी, धृतिहीर कणी, भवितात्म धणी, तिमिरहरण भान, बुद्धिके निधान, चारु वर व्याख्यान, शशिसम शीतल, निर्लेप जिम कमल, वरण शिव अमल, आशापूर्ण कल्प-तरुसम, सर्वगुणालंकृत पूज्य श्री महाराजाधिराज श्री श्री श्री श्री श्री १००८ श्री श्री ······"। ऐसे ही दूसरे भी कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। स्थानाभाव से यहाँ केवल एक ही उदाहरण दिया गया है।

दयनीयता

●

इस तरह बड़े-बड़े विशेषण-युक्त नामवाले हजारों आचार्य हमारे जैन समाज में हैं, पर समाज की जो हालत हो रही है, वह किसीसे छिपी नहीं है। सारा समाज छिन्न-विच्छिन्न हो मृत प्राय हो रहा है। स्वार्थपरता और विचारों की सङ्कीर्णता के कारण एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक समाज में विषमता की अग्नि जल रही है, और उसीमें समाज की सुख-शान्ति तबाह हो रही है। चारों तरफ हिंसा का दोरदौरा बढ़ा हुआ है। सारा संसार हिंसा की लपटों से भुलस रहा है—एक देश दूसरे देश को, एक 'धर्म' दूसरे 'धर्म' को, एक जाति दूसरी जाति को, एक राज्य दूसरे राज्य को, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को निगल जाने को ही मुँह बाये बैठा है। जब कि संसार में ऐसा भीषण ताण्डव हो रहा है, समाज में ऐसा अन्धकार फैल रहा है, करोड़ों आत्माएँ भूख-प्यास से विह्वल होकर सूखे कण्ठों से मर रही है, ऐसे महा-भयङ्कर समय में भी हमारे ये

परमेश्वर, ऋषीश्वर, तीर्थेश्वर और ईश्वरेश्वर आँखे बन्द किये आत्मा के ध्यान में लीन बैठे हैं ! सुबह-शाम दोनों वक्त इनके पेट में भोजन की पूरी मात्रा पहुँच जाती है और वह भी बिना हाथ-पैर हिलाये-डुलाये। उस पर भी मजा यह है कि एकदम पवित्र भोजन उनके पेट में पहुँचता है। पाप पाप सब श्रावकों के पास ही छूट जाता है। भर पेट अजगरों की तरह ये समाज पर पड़े हैं, जैसे परम शान्ति में लीन हों। और जो बिचारे रात-दिन कठोर परिश्रम करके किसी तरह अपनी क्षुधा शांत करने के लिए दो वक्त पेट भरने को अन्न प्राप्त करते हैं, उन पर ये सदा चिढ़े ही रहते हैं क्योंकि वे तो कर्म-बन्धन स्वरूप पाप का धुआँधार मचाये हुए हैं। किसान जब खेत में हल चलाता है तो पृथ्वीकाय के असंख्य जीवों के प्रतिनिधियों का डेपुटेशन अपनी रक्षा की फरियाद लेकर इन आचार्यों के पास पहुँच जाता है, पिंजारा और बुनकर जब अपने पिंजन और करघे पर काम आरम्भ करते हैं, तो वायुकाय के जीव भी इन आचार्यों की शरण में दौड़ पड़ते हैं, इसी तरह जब कोई लकड़ियों का ढेर जलाकर अपनी दो रोटियाँ सेंकता है, तो अग्निकाय के जीवों के मेम्बर की कमिटी बौखला उठती है, और दौड़ती है आचार्य महाराजों के पास !! आचार्य महाराज; जिनका पेट भरा हुआ है, तन ढका हुआ है, लगते हैं पाप और धर्म की व्याख्या करने उन बेहाल-फटे वस्त्रोंवाले किसानों और मजदूरों के सामने। और देते हैं उनको आरम्भ-समारम्भ से मुक्त होने की शिक्षा। खेत में जाकर अन्न पैदा करता है, चूल्हा जलाकर रोटी सेंकता है, रूई पींदकर सूत कातता है और उससे पहनने के लिये कपड़ा बुनता है, यह सब तो हुआ आरम्भ-समारम्भ यानी पाप। और दोनों समय मुफ्त का भर पेट भोजन कर लेना, मुफ्त के बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहन लेना, दिन भर श्रावकों से धर्म-चर्चा करते रहना, उनसे सेवा कराते रहना और आये गये से सिद्धान्तों की बहस करते रहना, यह है धर्म यानी आरम्भ-समारम्भ का नाश।

○

आचार्यों की यह अवस्था उस मनुष्य की-सी है, जिसकी बुद्धि को लकवा मार गया है, जिसके नेत्रों की ज्योति नष्ट हो गयी है, जिसके पुरुषार्थ का नाश हो गया है। असल में मुफ्त का रोटी-कपड़ा पाने से इन आचार्यों का भी उतना ही पतन हो गया है जितना किसी भी व्यक्ति का हो सकता है। आचार्यत्व मानो बिना प्रीमियम दिये रोटी-कपड़े का बीमा हो गया है। जिसका पेट बिना कुछ परिश्रम किये भर जाता है, जिसको उस परिश्रम की थकावट का कुछ भी अनुभव नहीं होता, और जिसे इन सबमें पाप की शिक्षा मिली हुई होती है, उसका पतन हुए बिना नहीं रहता। परिश्रम करना आदमी का पहला फर्ज है। जो इस फर्ज को भली-भाँति अदा नहीं करता, वह रोगी होकर धीरे-धीरे शारीरिक और नैतिक पतन के रास्ते मृत्यु के मुख में चला जाता है। और अपने साथ ही समाज को भी उसी तरफ खींचता रहता है। जब तक आचार्य यह न सोचेंगे कि मनुष्य को अपने कल्याण के साथ ही दूसरे मनुष्यों का भी कल्याण अवश्य करना चाहिये और यह कि अपने पड़ोसी से प्रेम करने और उसकी सेवा करने का तो मनुष्य का स्वाभाविक कर्तव्य है, और यह कि मनुष्य की बुद्धि का तकाजा है कि मनुष्य अपने भाइयों की सेवा करे और मानवजाति के सामुदायिक हित के लिये उद्योग करे, तब तक इस अवस्था में सुधार होने की कोई आशा नहीं है।

यह समझ कहाँ से आये, जब कि हमारे आचार्यों का जीवन एक अनुभवी लेखक के शब्दों में इस प्रकार व्यतीत किया जाता है—

"वे खाते हैं, उपदेश देते हैं, बातें करते हैं, बातें सुनते हैं। फिर खाते हैं, लिखते हैं या पढ़ते हैं, जो बातें करने तथा सुनने का ही दूसरा तरीका है फिर उपदेश करते हैं, सुनते हैं और सेवा कराते हैं और कुछ यांत्रिक क्रियाएँ करते हैं और सो जाते हैं। इसी प्रकार उनके दिन बीतते हैं वे और न तो

कुछ करते ही हैं और न करना जानते ही हैं। वे इस प्रकार का जीवन व्यतीत कर सकें, इसलिये रात-दिन उन सिद्धान्तों की चर्चा किया करते हैं और स्वर्ग-नरक की तसवीरें दिखाया करते हैं, जिनसे मनुष्य की बुद्धि और हृदय हमेशा उन तसवीरों के भय से दबा रहे, और वह उन आचार्यों की सेवा करने को बराबर आता रहे। और वे आचार्य सोचते रहते हैं और बताते रहते हैं कि जो लोग हमारी सेवा करते हैं, हम उनका बड़ा उपकार करते हैं। कोई पूछे कि तुम कौन-सा उपकार करते हो तो जवाब है कि हम उनकी आत्मा का कल्याण करते हैं। वे आत्म-कल्याण का जो उपदेश देते रहते हैं, उसको मैंने निकट से बैठ-कर सुना है। एक कहते हैं—"हम सबसे अच्छे और सबसे उपयोगी शिक्षक हैं, हम सबसे अधिक पवित्र धर्म की शिक्षा देते हैं। पर दूसरे गलत बातें सिखाते हैं।" दूसरे आचार्य कहते हैं—"नहीं, असली शिक्षक हम हैं; तुम गलत बातें सिखाते हो।" और वे एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहते हैं। और अपने-अपने भक्तों को इन लड़ाइयों में फँसाकर उनसे लड़ाई चलाया करते हैं, इस तरह से अपने भक्तों की सेवा का उपयोग और उनकी आत्मा का कल्याण किया करते हैं।"

मुफ्तखोरी

●

इतना सब होते हुए भी ये आचार्य अपने जीवन को निर्दोष सिद्ध करने के लिये और अपनी अकर्मण्यता को धार्मिकता के रंगसे रँगने के लिये, उन सिद्धान्तों की बातें किया करते हैं, जिनसे मनुष्यों के जीवन का कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। असल में जिस मनुष्य को मुफ्त की रोटी और इज्जत का मजा मिल जाता है, उसे फिर अपने जीवन में इस अधिकार को सुरक्षित बनाये रखने की ही परवाह हो जाती है। आज यही है हमारे आचार्यों की दशा। यह दशा स्वयं आचार्यों को और उनके अनुयायियों को रसातल पर ले जानेवाली है। इसलिये हमें इस दशा को बदलना

चाहिये। इसके लिये सबसे पहला काम यह होना चाहिए कि किसी आचार्य को मुफ्त का रोटी-कपड़ा नहीं मिलना चाहिए। जब तक वह समाज के प्रति, रोटी-कपड़ा पैदा करनेवालों के प्रति अपना पूरा-पूरा फर्ज नहीं समझते और उनकी सच्ची सेवा नहीं करते तब तक उनको मुफ्त में रोटी कपड़ा न देने का त्याग-व्रत लेना चाहिये। उनसे भी अधिक भूखे और नंगे रहनेवाले लोगों को हम दुनिया में देखते हैं। तब फिर अगर भूख और वस्त्र की आवश्यकता को समझकर भी हम देना चाहें, तो उन अधिक भूखों और नंगों को देना चाहिए। जब तक आचार्य लोग परान्न-जीवी रहने की आदत छोड़कर अपने परिश्रम के फल से निर्वाह करना न सीखेंगे, तब तक उनकी बुद्धि में ताजगी नहीं आयेगी। और उन्हें इन चीजों के उत्पादकों की विषम परिस्थितियों का पता तक नहीं चलेगा। इन आचार्यों ने अब तक जिस तरह की सुस्ती और काहिली का जीवन बिताया है एवं बिना कुछ भी किये स्वादिष्ट भोजन-वस्त्र पाते रहे हैं, उसके कारण उनका मानस सड़ गया है, और वे निष्क्रिय हो गये हैं, जिसका असर सारे समाज पर भी हुआ है। इनके लिए अपने कुत्सित और पापमय जीवन को समझना अत्यन्त कठिन है। जो लोग धर्म के नाम पर काहिली के जीवन की चोटी पर पहुँच गये हैं, उनके लिए यह समझना भी बड़ा कठिन हो गया है कि वास्तव में उनका कर्तव्य क्या है? वे अपने भक्तों को कर्तव्य की शिक्षा देने का शास्त्रीय व्यापार करते हैं, पर स्वयं अपने ही कर्तव्य को वे नहीं जानते। वास्तव में, लोग जब असत्य के ढेर की चोटी से, जहाँ वे खड़े हैं उस धरातल की ओर देखते हैं कि जहाँ फिर से साधारण मनुष्य जीवन प्रारंभ करने के लिये उन्हें उतर कर जाना है, तो उनका दिमाग चकरा जाता है। यही कारण है कि जो सीधी और स्पष्ट बात है, वह भी उनकी समझ में नहीं आती। यदि समझ में आती भी है, तो उसको जीवन में उतारने की हिम्मत नहीं होती।

यह करें

●

अतएव आचार्यों से अनिवार्य रूप में कवायद कराने की योजना की जानी चाहिये---जिससे उनके हाथ-पैरों के बंधन खुलें और उनमें स्फूर्ति आये। खाया हुआ भोजन पचे और मानस-चक्षुओं का मैल धुले। सेवा लेने के बदले अब उनके लिये सेवा करने का नियम लाजमी होना चाहिये। सामाजिक और मानवीय कल्याण की किसी न किसी प्रवृत्ति में भाग लेना और उसमें अपना जीवन खपाना उनके लिये अनिवार्य होना चाहिए। जब तक आचार्य लोग इस प्रकार अपने जीवन में परिवर्तन करने की बात को कबूल न करें, तब तक उनके साथ असहयोग किया जाना चाहिये और मुफ्त का अन्न उनके पेट में पहुँचा कर उनका और अपना विनाश करने से तो बचना चाहिये।

'तरुण जैन'
मार्च, १९४२

अंधा श्रावक

'हजूर सा' के पैरों में 'तिखुंते' के पाठ से वन्दना करते हुए हिंसा और अहिंसा के भेद को समझने के लिए उत्कंठित (?) श्रावक से मैं पूछता हूँ। तुम कच्चे पानी को स्पर्श तक भी न करनेवाले आचार्यजी को उनके शरीर पर पड़ी हुई रेशमी पछेवड़ी के बारे में तो पूछो कि क्या इसमें कच्चे पानी जितना पाप भी नहीं है ? क्या उनके शास्त्रों में, रेशम के निर्माण में कोई आरंभ-समारंभमय हिंसा नहीं होती ! इतना ही नहीं, पर इसके पीछे हुई लूट, शोषण, जुल्म और अत्याचारों के इतिहास की गाथाएँ भी तो पूछो। श्रावक, यह भी नहीं जानते क्या कि शहतूत के वृक्षों पर पले हुए कीड़ों का कचूमर निकालकर, मशीनों द्वारा रेशा तैयार करके बड़ी-बड़ी मिलों में वायुकाय और अग्निकाय के असंख्यात जीवों का होम करते हुए कपड़े के रूप में रेशम को बनाते हैं, जिसको कि विदेशों से 'सात समुन्दरों' की छातियों पर अपकाय के अनन्त जीवों का नाश करके तुम्हारे सामने लाते हैं। अहिंसक श्रावक ! और इसका भी तो तुम्हें भान होगा कि तुम्हारे इस कपड़े की कीमत के रूप में दिए हुये पैसों से उन मिलों के लाखों और करोड़ों भूखे मजलूमों के खून को चूस-चूसकर मोटे होनेवाले वे पूँजीपति, हजारों ललनाओं का सतीत्व लूटा करते हैं, शराब के पेग के पेग उड़ा जाते हैं और न जाने कितने इज्जतदारों और उनकी औरतों को पथ के भिखारी बना देते हैं। हे श्रावक, फिर भी मजा यह कि इन पूँजीपतियों और उनकी मिलों द्वारा बने हुए छः काय की हिंसा के प्रतीक इस कपड़े ने ही तुम्हारे 'दीन बन्धु' के समक्ष अपना प्रभुत्व जमा रखा है।

विरोधाभास

•

हिंसा की अंधकारमयी रजनी से उद्धार पाने के लिए आतुर श्रावक ! सूक्ष्म जीवों की हिंसा और कर्म की हिंसा के पचड़े में पड़कर, विज्ञान-शालाओं, स्कूलों और लाइब्रेरियों का विरोध कर या मुँह पर चौबीस घंटे मुँहपत्ति बाँध लेने से न तो संसार की हिंसा मिटी है और न मिट सकेगी। हिंसा का अंत करने के लिए एक ही उपाय है और वह है निजी सम्पत्ति का अन्त कर देना, ताकि मनुष्य-समाज में हिंसा करने की शक्ति किसीके हाथ में न रहे। पर ऐसा अगर तुम कर दो तो तुम्हारे इन छिटकी हुई तोंदवाले गुरुओं के लिए बादाम गोटे, मिश्री और मेवे कहाँ से आयेंगे। श्रावक, दूरबीन से भी न दिखनेवाले जीवों की रक्षा करने के लिए अपने को निछावर करने को उतावले फिरते हो, परन्तु लाखों मनुष्यों के शरीर में व्यापार की पिचकारी लगाकर उनका जो खून चूस लिया जाता है उस ओर तुम्हारा और तुम्हारे 'ऋषिराज' का ध्यान न जाय और तुम उसकी परवाह न करो तो यह अपने-आपको अंधा साबित करने के सिवाय और है क्या ?

धर्म-संस्था

•

शांति और सुख की कामना को लेकर तुमने जिन धार्मिक, सामाजिक व कौटुम्बिक संगठनों को जन्म दिया, वही सघ और संगठन तुम्हारे लिए अशांति के कारण बने और बन रहे हैं। शांति और निर्वाण-प्राप्ति के लिए तुमने धर्म जैसी पवित्र संस्थाओं का निर्माण किया; लेकिन तुम्हारी इन्हीं पवित्र संस्थाओं द्वारा जीवन की साधना का गला घोंटा जा रहा है, तुम्हारे आजाद विचारों को दबाया जा रहा है और तुमको अब भी गुलामी, जी-हुजूरी व नौकरशाही के जालिमाना काम करने पड़ते हैं। जो संघर्ष पहले आचार्यों-आचार्यों के बीच शुरू हुआ था, वह बढ़कर समाज-समाज, धर्म-धर्म और श्रावक-श्रावक के बीच चलने लगा है और इस तरह तुम्हारा

सदियों का शांति का स्वप्न तुम्हारी आँखों से दूर—बहुत दूर चला जा रहा है इस धर्म के द्वारा ! फिर भी हो तो तुम अंधे के अंधे ! पर आज तुम क्रांति के उस महान् विस्फोट के मुख पर खड़े हो, जो न जाने कब जाग्रत होकर तुम्हारे और तुम्हारे 'साधुओं' के अस्तित्व को ही मिटा दे। अबोध श्रावक, प्रतिदिन के संघर्ष, प्रतिदिन के जद्दोजहद और प्रतिदिन के इस शोषण और दोहन के खिलाफ जब कि दुनिया की एक महान् विभूति ने विप्लव की आवाज उठायी है, तब तुम्हारे 'कलि-काल सर्वज्ञ' युग-धर्म के उस महान् क्रान्तिकारी महात्मा गाँधी को मूर्ख, पागल, हिंसक और न जाने क्या-क्या अंडबंड बकते हैं। उस गाँधी ने चिर-स्थायी शान्ति कायम करने के लिए, दुनिया को हिंसा के विकराल ग्रास से बचाने के लिए हाथ से बनी अहिंसक खादी पहनने का उपदेश दिया; वहाँ तुम्हारे ये क्षमा सागर अनन्तानन्त जीवों की हिंसा के बाद बने हुए मिलों के कपड़े बड़े गौरव के साथ पहना करते हैं। श्रावक ! तुम इतने अन्धे हो गये हो ? देखते ही नहीं कि अहिंसा के उपदेश देने के एकमात्र हकदार इन 'कल्याण-केतुओं' के शरीर किस तरह हिंसक कपड़ों से लिपटे हुए हैं !

दया और न्याय के भेद की खोज करनेवाले श्रावक ! तुम्हें आज अपने चारों ओर की परिस्थिति कुछ रूखी-सी, कुछ थकी-सी और कुछ खिजी-सी नहीं लगती क्या ? तुम देखते नहीं क्या कि इस समय धर्माचार्यों ने अधर्म को ही पुण्य, चापलूसी को ही यश और पाप को ही विभूति बना रखा है ? इनकी बुद्धि मलिन, इच्छाएँ हिंसक और अहिंसा विकृत हो गयी है, अपने खाने-पीने, पहनने और पाखाना तक जाने में धर्म बतलानेवाले तुम्हारे 'गुण आगारों' के ठिकाने के बाहर सदियों से भूखे और दुखियों की पुकार उठ रही है।

उठो श्रावक !

●

यह सब देखकर तुम्हारा दिल कंपित हो रहा है तो आँखें खोलो, श्रावक, देखो, युद्ध की चुनौतियों की गूंज से मानवता—नंगी और भूखी

होकर चीत्कार कर रही है। तुम्हारा दिल कांप रहा होगा और अन्धकार व निराशा की शून्य गलियों में आह्वान कर रहा होगा। इन 'जिन आज्ञा प्रति-पालकों' के अधर्म और अन्याय के विरुद्ध अब कब तक अन्धे बने रहोगे! उठो तेजोमय क्रांति सत्य और न्याय की मसाल जलाये तुम्हारा आह्वान कर रही है।

बालदीक्षा

●

श्रावक! सुन्दर शामियाने के नीचे राजसी शान-शौकत से बैठे हुए आचार्यजी के सम्मुख अपने शैशव के कुतूहल, बालपन की जिज्ञासा, किशोरावस्था की अनुरक्ति, यौवन के सौंदर्य-बोध और प्रौढ़ वय की कल्याणकारी चेतना के स्वप्न को कुचलते हुए कुछ नन्हे-नन्हे अबोध बालक-बालिकाओं को दीक्षाव्रत अंगीकार करते हुए देखकर तुम्हारी आँखें बन्द हैं?

इन छोटे छोटे बच्चों को मूँड़े जाते देखकर तुम्हारी आत्मा में वेदना की आग उत्पन्न नहीं होती? हाँ, मुझे मालूम है कि धर्म की अफीम तुम्हें खिलायी गयी है जो उन्माद से भी अधिक प्रबल और मदिरा से भी अधिक मादक है। वह बिन्दोरों की चार दिन की चाँदनी उन नन्हे-नन्हे गट्टूड़ियों को स्वप्न की शून्य छाया की भाँति छलने आती है। फिर उनके सामने वह संसार है जो कि अपनी डरावनी आँखों के द्वारा उनकी आत्मा में प्रतिक्षण दारुण दाह उत्पन्न किया करता है। और फिर उनके दरिद्र हृदय में 'महाराजजी' की उन कृपाओं??? की अतुल निधियों को बटोरने की समर्थता नहीं रहती। प्रलोभन की उस सम्पत्ति को स्वीकार करते ही वे जलने लगते हैं परन्तु बाद में उसकी अस्वीकृति और भी दारुण होती है। श्रावक, तुम हमेशा देखते हो न इन 'ऐराकी घोड़ों' के 'वखाण' की रेस, जिसको समझना तो दूर, पूरी तरह सुन भी नहीं सकते? देखकर भी क्यों अन्धे हो! तुम जानते हो कि वखाण के बीच भी छोटे-छोटे साधु अपनी उम्र के लड़कों की तरफ आँखें मारकर किस तरह ठिठोल करते हैं, फिर भी ये 'सकल गुण मंडित' कहे जाते हैं।

श्रावक, महाराज के ठिकाने के सामने से बाजे-गाजे सहित गुजरते हुए एक जुलूस के मध्य में घोड़ों पर या मोटरों में भावी साधुओं को बैठे हुए देखा है न, जिनके मुँह से हवाइयाँ उड़ती हुई सी मालूम होती हैं। कभी इसके कारण को भी सोचने की क्या तुमने तकलीफ गवारा की है ? इनके हृदय में कोई वैराग्य की भावना न थी, पर इन बिन्दौरों और बिन्दौरियों, अच्छे-अच्छे माल खाने की लालसा, लोगों से मान पाने की तमन्ना और साधुओं की फुसलाहट ने ही इन्हें इस रूप में पहुँचा दिया है। यदि इसके लिए कोई नजीर चाहते हो तो कान खोलकर, दिल थामकर और दिमाग को स्थिर कर अपने भावी दीवानजी के ये शब्द सुनो जो कि उन्होंने माघ महोत्सव पर हजारों आदमियों की तुमुल हर्ष-ध्वनि के बीच बुलन्द आवाज में उद्घोषित किये थे—"वैरागी वैरागिनियों को विरह पड्यो न कदै, होड़ाहोड़ आवै भेंट नाना नाना गट्टड़ा।"

बचाओ !

●

श्रावक, आँखें खोलो ! इस तरह इन कोमल प्राणों का नाश न करो—भेड़-बकरियों की तरह इन्हें दीक्षा की भट्ठी में फुसलाहट की बालू के साथ मत भून डालो। हवा तुम्हारे पापों के बोझ से भारी हो रही है, आकाश इन निरीह बलिदानों को देखकर क्रोध से चलायमान हो गया है। इसके पहले कि वज्र और सर्वनाश आकाश में से उतर आये, तुम आँखें खोलो और बचाओ अपने को और अपने समाज को !

यह सब देख-सुनकर भी अगर तुम्हारा अन्धापन बना ही रहा, तो नाश का एक बादल आयेगा और वह सदा के लिए तुम्हारी इन 'विभूतियों' को, इन 'पुण्यात्माओं' को ऐसा ढ़क जायगा कि फिर कभी इनका नामोनिशान ढूँढ़ने से भी नहीं मिलेगा। आँखें तो तुम्हरी खुलनेवाली हैं ही, पर जल्दी खोल लोगे तो फायदा है।

'तरुण जैन'
अप्रैल, १९४२

चौमासा न कराइये

चौमासा आ रहा है। वही आषाढ़ के प्रारम्भ से भाद्रपद के अन्त तक का चौमासा, जिसमें ध्रुव रूप से यह मान लिया गया है कि वर्षा होगी, और अवश्य होगी। किसी देश में आषाढ़ से पूर्व अर्थात् वैशाख-ज्येष्ठ में ही वर्षा शुरू हो जाती है, और किसीमें आषाढ़ महीने में भी कभी वर्षा नहीं होती है। तब भी जैनियों का वर्षा ऋतु का "चौमासा" उन्हीं चार महीनों का रहेगा क्योंकि अहिंसा के अनन्य पुजारी हमारे जैन साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका के चतुर्विध संघ की मान्यता है कि वर्षा के अभाव में भी वर्षा के पानी से उत्पन्न होनेवाले जीव जरूर अषाढ़ में ही उत्पन्न हो जायेंगे और आश्विन की वर्षा के बावजूद इस महीने में न नये जीव उत्पन्न होंगे और न पुराने जीवित रह सकेंगे।

विधि

●

तो, चौमासा आ रहा है। किसी न किसी साधु, मुनिराज, मुनि महाराज, संत, पन्यास, आचार्य का चौमासा अमुक शहर में भी होना चाहिए। काफी दिनों पहले साधुजी की सेवा में निमंत्रण-निवेदन भेजना चाहिए जैसे कि गृहस्थ से विवाह या 'नुक्ते-आरे' के समय अपने सगे-सम्बन्धी को भेजा जाता है। निमंत्रण भेजने की श्रावक-श्राविकादि वर्ग की अपने अपने सम्प्रदाय या वर्ग के साधु-साध्वी वर्ग के प्रति आत्मीयता, श्रद्धा, भक्ति,

प्रेम-भावना आदि-आदि बतलाती है। निमंत्रण काफी दिनों पहिले जाना चाहिए, क्योंकि भगवान् की आज्ञा से जैन साधु-साध्वीगण रेल गाड़ी, बैल-गाड़ी, घोड़ा-गाड़ी, मोटर-गाड़ी, पालकी-गाड़ी, ठेला-गाड़ी अर्थात् किसी भी गाड़ी में बैठने की बात तो दूर, उसे छू तक नहीं सकते। चाहे इनके साथ चलनेवाले ग्रंथभण्डार के लिए, हस्तलिखित पोथी-पत्रों के लिए, या सेवा करनेवाले भक्त-भक्तिनों की मंडली (जिनमें रेंगते हुए बूढ़े बूढ़ी या शिशु, फुदकते हुए बालकादि और इठलाते जवान पट्ठे सभी शामिल हैं) के लिए घोड़े, ऊँट, बैलगाड़ी, मजदूर आदि की सवारियाँ भले ही रहे। इन भक्तों के साथ रहने से फायदा यह है कि साधु-मुनिराज, आदि का बोझ कभी-कभी थोड़ा हल्का हो जाता है। मुनिराजों के लिए मधुर-मिष्ठान्न और भोजन, गरम पानी इत्यादि वस्तुओं का प्रबन्ध तो साधारण बात है, पर यदि हर क्षण जय-जयकार करनेवाले भाटों की कमी रह जाय तो साधु मुनिराज की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचने का खतरा रहता है।

आमंत्रण

•

लेकिन अपने राम ने देख लिया है कि किसी मुनि, साधु-सन्त, साध्वी आचार्यजी को चौमासा करने के लिए आमंत्रण देना अब आसान काम नहीं है। पूछा जा सकता है कि साधु-साध्वी वर्ग को तो इस निमन्त्रण आदि के विचार से ऊपर उठ जाना चाहिए। और इन्हें न इसकी आकांक्षा ही है। या न ये इसके लिए कोई उत्सुकता या आवश्यकता ही बताते हैं। लेकिन पूछनेवालों को दिमाग के पुर्जे कसकर और मजबूत बनाकर समझना चाहिए कि आज जैनियों का मामूली युग नहीं रहा है, जैसा कि पहले था। अब इन धर्म के आचार्यों ने और दिगम्बर-श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक स्थानक वासी तेरापन्थी आदि साधु-साध्वी वर्ग ने अपने तप-ज्ञान, संयममय जीवन और धार्मिकता की बिजली से चकित करके विश्व को चकाचौंध में डाल दिया है। जैनत्व के यश को संसार के कोने-कोने में

फैला दिया है। जिसे १४ ब्रह्माडों में फैली हुई शब्द-ध्वनि को जैसे रेडियो ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार वे ही जैनी सुन सकते या अनुभव कर सकते हैं जो मिथ्यात्वी नहीं हैं। जिनमें श्रद्धा की आग निरंतर जलती रहती है और मुँह, नाक, कान के दरवाजे से बराबर लपट फेंकती रहती है। जो पक्के जैनी हैं। ऐसे अपने भक्तों के मुँह से "अहो रूपम् अहो ध्वनि" जैसे शब्दों में प्रतिष्ठा पाने वाले साधु-साध्वीगण भला अनायास ही अनेक स्थानों के निमन्त्रण चौमासा विताने के लिए क्यों नहीं पायेंगे। अर्थात् जरूर पायेंगे। जो निमंत्रण पाते हैं उन्हें निमंत्रण भेजना चाहिए। अतः ऊपर कहा गया कि काफी दिनों या बहुत दिनों पहले निमंत्रण भेजना चाहिए। पर वह सोच-विचार कर ही भेजना चाहिए, क्योंकि निमंत्रण भेज देना आसान काम नहीं है। इस आसान नहीं होने की बात को स्पष्ट करने के लिए कुछ मित्रों का अनुभव बताना आवश्यक है।

अनुभव

●

अमुकपुर, गढ़, सर के श्रीमन्त भक्तगण (और श्रीमन्त ही तो सच्चे भक्त हो सकते हैं!) तथा उनके मुनीम गुमास्तेगण श्री श्री एक लाख आठ श्री जैनाचार्य, जैन धर्म दिवाकर, जैन सिद्धान्त सागर, जैन न्याय नाविक, जैन वापी विहारी इत्यादि अनन्त उपाधिधारी विद्वद्वर श्री…… सूरीजी, श्री……मलजी, श्री……रामजी, श्री……सागरजी, श्रीमती……श्रीजी श्रीमती सतीजी, श्री……सन्तजी के पास अलग-अलग टोलियों में अपनी मान्यता के अनुसार अपने-अपने सम्प्रदाय के साधु-साध्वी वर्ग के पास दर्शनार्थ गये और बात-चीत के दौरान में विभिन्न टोलियों की ओर से विभिन्न टोलीपतियों (अर्थात् पूँजीपतियों) ने अमुकपुर में चातुर्मास करने की विनती की। इसी प्रकार अनेक नगरों की अनेक टोलियाँ दर्शनार्थ आयी थीं और दर्शन के अतिरिक्त उनका एक काम अपने-अपने जैन धर्म के स्तम्भों (साथ ही स्तम्भिनों)

से चातुर्मास उनके नगर में करने का आमंत्रण देना भी था। विभिन्न सम्प्रदाय के साधु-सती अपने-अपने भक्ति में डूबे हुए श्रावक-श्राविका आदि की टोलियों को समयानुरूप शब्द कहे, उपदेश दिये, मांगलिक सुनाये। चातुर्मास करने के मामले में यह साधु-साध्वी वर्ग व्यापारियों की भाँति बड़े पटु हो गये हैं। उन्होंने अपनी-अपनी बुद्धि, ख्याति, प्रतिष्ठा, दलबन्दी आदि के अनुसार शर्तें बतायीं, जिनकी पूर्ति के आश्वासन पर उनके चातुर्मास करने का स्वीकृति देना निर्भर था। कुछ शर्तों को जान लेने के बाद यह समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं होगी कि इन घर छोड़नेवाले या वालियों को आमंत्रण देना आसान काम नहीं है।

ये शर्तें

●

एक ने कहा—खिलाने की सामग्री, पिलाने के पानी आदि पेय पदार्थ, चटाने की चटनी आदि अर्धद्रव और आधे ठोस मिश्रण सब कुएँ के पानी से बने होने चाहिए। पानी विशुद्ध जैन श्रावक के द्वारा चमकते हुए सोने, चाँदी, पीतल या तांबे के बर्तन में लाया जाना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, मेहतर, चमार अन्य धर्मावलम्बी की छाया न पानी पर पड़नी चाहिए और न अन्य सामग्री पर। कुएँ में से जिस समय पानी निकाला जाय उस समय में वही एक पात्र होना चाहिए जो विशुद्ध जैन श्रावक पानी निकालने के लिए कुएँ में डाले। यदि कुएँ पर सुबह के वक्त इतनी सुविधा न मिले, तो दुपहर के बारह बजे या रात को बारह बजे इसी शुद्धता और सतर्कता से पानी आना चाहिए। सामग्री बनाने व पिलाने में इसी पानी का प्रयोग होना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि मैं तो यह शर्त रखता कि आहार देनेवाला जैन श्रावक ऐसा विशुद्ध मिले जिसकी कम से कम सौ (और जितनी ज्यादा हो उतनी ही अच्छी) पीढ़ियाँ इसी शुद्धता और सतर्कता से कुएँ के पानी का प्रयोग कर रही हों, तभी चौमासा करूँ, परन्तु इस शर्त से श्रावक तथा श्राविकाओं को

मुनि के आहारदान में बड़ी अन्तराय आड़ी आयेगी। इसलिए यह शर्त नहीं लगा रहा हूँ। मेरे शिष्य प्रशिष्य और उसके बाद के शिष्य क्रमशः इस शर्त को कठोर बनाते जायेंगे तभी जैन धर्म की रक्षा होगी और साधु-साध्वी वर्ग की शुद्धता बनी रहेगी।" इत्यादि और भी कई शर्तें थीं। जैसे-आहार देने के लिए जो भी व्यक्ति आये, वह तीन बार गरम और तीन बार ठण्डे पानी से स्नान तो करे ही, इतने पर भी पुरुष वर्ग आहार दान का काम न करें, क्योंकि वे लोग दिन-रात अपने काम-काज के सिलसिले में जैनेतर पुरुष-स्त्रियों तथा गाय-भैंस, बकरी-ऊँट आदि पशुओं तथा मक्खी-मच्छर आदि छोटे-छोटे पक्षियों को छूते या उनके द्वारा छुए जाते हैं। आहार देना किसी स्त्री के अधिकार की बात होनी चाहिए। (यह महिलाओं की उन्नति की दृष्टि से आवश्यक बतलाया गया होगा)। आहार देनेवाली स्त्री को बिल्कुल स्वच्छ और ऐसा महीन वस्त्र पहनना चाहिए जिससे घूंघट के बावजूद सारी सृष्टि उसे दीख सके, और वस्त्रों के बावजूद उसे सारी सृष्टि अच्छी तरह देख सके (यह पर्दा प्रथा उठाने की पहली सीढ़ी बतायी गयी होगी)। पर कहीं भी कपड़े की दो तह तो होनी ही नहीं चाहिए। आहार आदि के समय के अलावा दर्शन, व्याख्यान श्रवण आदि के समय स्त्रियां नजदीक [गद्दी के नजदीक] और पुरुष दूर बैठने चाहिए तथा मुनिजी की ओर बिल्कुल घूंघट उठाकर निहार सकती, हंस सकती, दण्डवत् कर सकती या चाहे जो कर सकती हैं लेकिन उन्हें (मुनिजी को) छूने का कतई उपक्रम न करें। नगर या गाँव में चाहे हजार जैन स्त्री-पुरुप ही रहते हैं परन्तु यदि मुनिजी का चातुर्मास कराने की भावना है तो कम से कम डेढ़ हजार स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, रेंगनेवाले शिशु आदि ऐसे होने चाहिये या कहीं से जुटाये जाने चाहिए जो कुएँ के जल को ही काम में लेने, शूद्र-जल का त्याग करने, रात में मावे की चीज के अलावा सब प्रकार की अन्नादि की सामग्री, फूल-फलादि को छोड़ने आदि के व्रत ले सकें। इसी प्रकार की उन मुनिजी की अनेक शर्तें नगर से आये हुए भक्तों की एक टोली

के आगे रखी गयी। उन मुनिजी की जय-जयकार के बाद वह टोली विचार करने के लिए अपने दड़बे में चली गयी। इसी प्रकार अनेक नगरों से अनेक टोलियाँ आयीं और मुनिजी की शर्तों को विचारने के लिए खिसकती गईं।

'संत' की शर्त

●

'संत' जी की शर्तें सुनिये। उन्होंने कहा, "आप लोग जानते हैं हम एक के अनुशासन में चलते हैं और उन्हींकी आज्ञा-पालन करते हैं। 'चातुर्मास' तो क्या साधारण तौर पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए भी हमें उनकी आज्ञा मिलनी चाहिए। आपमें से कोई सुश्रावक उनकी आज्ञा को 'धारण' कर आये तो हमें वहाँ 'चौमासा' करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। इतना ध्यान रखना चाहिए कि हमारे नियम-धर्म को पालन करने पर उपदेश को पेट में गटक जाने के लिए आप लोग पूरी तरह तत्पर हों। भोजन-आहार की अपने कोई बात नहीं। उपवास व्रत वगैरह पर आप लोग स्वयं ही ध्यान रख लेते हैं। हलवाई या घर पर ही खांड का पानी मिल जाया करे तो अच्छा वरना 'धोवन-धावन' तो 'मोकला' मिल ही जायेगा। एक बात जरूर ध्यान रखने की है। चौमासे पीछे अमुक अवसर पर हम सब जब उनके पास पहुँचें तो हमारी प्रेरणा से उस मौके पर आपके नगर के श्रावक-श्राविकादि में से भी सौ-पचास ऐसे होने चाहिए जो गृहस्थ के जंजाल को छोड़-कर, माँ-बाप से रस्सी तोडकर, उनकी चरण-रज लें और इस भव एवं परभव को सुधारने तथा आत्मा का कल्याण करने के लिए 'संत' या 'सती' बनने यानी साधु-साध्वी का चोला अख्तियार करने को तैयार हों। नहीं तो उनकी ओर से डाँट पड़ेगी कि थोड़े बहुत भी स्त्री-पुरुष, गटटूड़े-गटटूडी, हमने धर्म के विस्तार, आत्मा के उद्धार आदि के लिए

तैयार नहीं किये। यह हमने कह ही दिया कि उनकी आज्ञा 'धारण' करके कोई आयेगा, तभी हम आपके नगर में पधार सकेंगे।"—इत्यादि।

सूरी जी की शर्त

●

एक 'सूरी' जी ने शर्तें रखीं—'आप भागे-भागे आते हैं और कहते तो हैं कि महाराज चौमासा यहाँ करिये, वहाँ करिये। देखते नहीं हैं अपना धर्म कैसा डूबा जा रहा है। आजकल के छोरे-छोरी मन्दिर में एक बार भी दर्शन करने नहीं जाते, पूजा-पाठ सामायिक आदि की बात तो दूर। आपने अपने नगर में हमें ले जाने के लिये क्या तैयारी सोची है? अगवानी के लिये कितने आदमी आयेंगे। उस साध्वी और उन शिष्यों की बड़ी दीक्षा होगी। इनके रिश्तेदार आदि आयेंगे, कुछ प्रभावना आदि करेंगे। उस समय आपका श्रीसंघ ओछापन तो नहीं दिखायेगा। मेहमानों की पूरी अभ्यर्थना करना श्रीसंघ का ही काम है। हैं न आप इसके लिए तैयार? दो-चार पब्लिक लेक्चरों का प्रबन्ध भी करना चाहिए। चौमासा खत्म होते न होते छोटा-बड़ा संघ निकाला जाना चाहिए। चाहे पाँच-सात कोस के मंदिरों का दर्शन करने के निमत्त ही निकले। नौपद पूजा, बड़ी पूजा, छोटी पूजा, भगवान् की माता के स्वप्नों की पूजा और साथ-ही पेट पूजा आदि के लिए थोड़ा बहुत खर्च होना चाहिए। मंदिर और धर्मशालाओं में संगमरमर की फर्श बनवाने, अमुक मंदिर की मूल नायक की प्रतिमा पर एक रत्नजटित सोने का खोला बनाने में आप लोगों को धन लगाना चाहिए। इसीसे धर्म की ध्वजा ऊँची उठेगी। वैसे आप चिन्ता न करें। दूसरे नगरों के श्री संघ से थोड़ा बहुत पैसा विशेष तपस्या आदि, संघ निकलवाने, प्रतिष्ठा महोत्सव करने आदि के लिए मिल जाना बिल्कुल आसान है। मेरे बहुत-से मोटे-मोटे श्रावक और मोटी-मोटी श्राविकाएँ हैं। थोड़ा बहुत पोस्टेज का, ग्रन्थ आदि मँगवाने का, रेशमी चादर वगैरह बदलने का खर्च हमारा भी है। चातुर्मास के अन्त में स्वामी वत्सल श्री

संघ की ओर से होना चाहिए। हे श्रावकगण, हमें तो इस सारे काम से मतलब नहीं। धर्म की ज्योति को जगमगा देने के लिए हम तो यह सब कहते हैं। दूसरे कई एक नगरों के श्रावक संघ निकालने, प्रतिष्ठा कराने, नया मंदिर बनवाने आदि की जिम्मेदारी हम पर ही डालना चाहते हैं। उनका आग्रह है कि हम लोग अबकी बार चौमासा वहीं करें। हमारी तो मंसा सदा यही रहती है कि जिस क्षेत्र में साधु-साध्वी कम जाते हों उसमें हम जायें। ताकि वह क्षेत्र भी जैन धर्म की सुगन्ध (?) से सुवासित हो जाय" इत्यादि।

'......' की शर्त

और एक मलजी ने कहा—हमारा काम तो धर्म का उपदेश देना और महावीर के सन्देश को मानव-मानव तक पहुँचा देना है। दया पलवाने, कसाई-खाने बन्द करवाने, कबूतरखाना खुलवाने आदि से ही अहिंसा के सिद्धान्त की रक्षा हो सकती है। हम केवल बात करना या उपदेश देना पसन्द नहीं करते, हम तो चाहते हैं कि हमारे उपदेश का फल सच्चे रूप में कितना निकलता है। अष्टमी-चतुर्दशी को सामायिक प्रतिक्रमण करने के लिए स्थानक में आना जरूरी होगा। नगर की आबादी, यानी जैनियों यानी अपने सम्प्रदायवालों की आबादी का आधा अंश तो स्थानक में सामायिक प्रतिक्रमण, व्याख्यान, पौषध, दया-पालन आदि के निमित्त से आना चाहिए। दूसरे में दया पालन कराने का कार्य भी एक-दो श्रीमन्तों की ओर से होना चाहिए। साधारण स्थिति के या गरीब श्रावकों पर बोझ डालना अच्छा नहीं।

उनसे दया-पालन के निमित्त आवश्यक धन का चंदा माँगा गया तो इन कामों में भाग ही नहीं लेंगे। मन्दिरों के आडम्बर से आज बहुत व्यक्ति घबरा उठे हैं और हमारे धर्म की ओर सबकी श्रद्धा बढ़ रही है। आप लोगों को चाहिए कि ऐसे समझदार व्यक्तियों को व्याख्यान में लायें

और उन्हें संसार के माया जाल से छूटकर मुक्ति के पथ की ओर बढ़ने का अवसर दें। कुछ राज्याधिकारियों और विजातीय श्रीमंतों को भी उपदेश-श्रवण के लिये लाना चाहिए। अन्य धर्मावलम्बियों में जो यह भ्रम फैला हुआ है कि जैन धर्म तो कायरों का धर्म है या कि यह मुँहपत्ति-वाले साधु बड़े गंदे और संकुचित मनोवृत्तिवाले हैं, इन धारणाओं और भ्रमपूर्ण भावनाओं को दूर करने का यही तरीका है कि जैनेतर-समाज के श्रीमंतों को स्थानक में आने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। स्थानक में उनके कानों को, दिमाग को और विचार को ठीक कर देना हमारा काम है और हमने यह चोला ही क्यों अख्तियार किया है।" इत्यादि इत्यादि ।

साधारण शर्तें

●

कई एक शर्तें तो सभी सम्प्रदाय या वर्ग के साधु-साध्वीगण, संत-सतीगण की एक-सी होती हैं। जैसे यह कि, "सुश्रावकगण, आप हमें चौमासा अमुकनगर में करने के लिए जोर तो दे रहे हैं पर वहाँ सैकड़ों कोसों से श्रावक-श्राविकादि हमारे दर्शन, सेवाकार्य आदि के निमित्त 'चौमासे' भर ठहरने या 'चौमासे' के तुरन्त बाद आयेंगे। उनके ठहराने, गरीब श्रावक तथा विधवा श्राविकादि के भोजन का इन्तजाम करने आदि की ओर आपको खास ध्यान रखना होगा।" कोई सम्प्रदाय चातुर्मास के बाद 'स्वामीवत्सल' करने, 'संघ' निकालने, अपनी 'लायब्रेरी' को एक स्थान से दूसरी जगह ले जाने तथा खोजपूर्ण अत्यन्त उपयोगी पुस्तकें लिखने की सहायता के लिए नये ग्रन्थादि मँगवाने, 'दया-पालन' कराने आदि के लिए धनराशि की आवश्यकता बतलाता था तो कोई 'पूज्यजी' के अमुकनगर में रहने से जो 'मेला' होगा, गटूड़े-गटूड़ियों का दीक्षा-संस्कार होगा, आदि कार्यों के लिए बड़ी धनराशि की माँग स्पष्ट शब्दों में नहीं तो घुमा-फिराकर 'विनती' करनेवालों के सामने रखता था और इस

प्रकार मुनि-साधु-संत महाराज या मुनिनी-साध्वी-सती महाराज्ञी को 'चौमासा' करने के लिए आमन्त्रित करने का मतलब एक बड़ा भारी व्यापार करना था जिसमें जिस नगर की टोली की बोली बढ़ जाती थी, वही सौदा कर ले जाता था। श्रावक-श्राविकादि भी ऐसे मूर्ख तो हैं नहीं, जो ऐसे समय या दिन जाकर ऐसे स्थान का आमंत्रण देते जहाँ साधु-साध्वीगण का पैदल चलकर चौमासे तक पहुँचना ही असंभव हो।

इस व्यापारिक दृष्टिकोण और संसार के सुख-साधनों—जगत् के भोग-विलास, कर्म-काण्ड को नाम के बतौर छोड़ देनेवाले बहुसंख्यक दिगम्बर, श्वेताम्बर, रक्ताम्बर, मलिनाम्बर, चौड़ी मुँहपत्तिवाले और सकड़ी मुँह-पत्तिवाले साधु-साध्वीवर्ग के सौदा करने की मनोवृत्ति की गाथा को सुनने के बाद समझ में आ गया होगा कि इन्हें 'चौमासे' के लिए आमंत्रित करना आसान काम नहीं है। होंगे इनमें कुछ सरल-स्वभाववाले सच्चे तपस्वी और धर्मप्रेमी भी। पर दुनिया की सूक्ष्म दृष्टि में जिनका पलड़ा भारी दिखाई देता है, उन्हींके आधार पर एक मत स्थिर हो जाता है और उसी से सारा जैन-धर्म और जैन-धर्मावलम्बी बदनाम हो जाते हैं। जब सच्चे साधु-साध्वी बिलकुल ही इनेगिने हों तब तो इस मत का खण्डन करना और भी अधिक कठिन है। इस हालत में अपने राम जैसे 'दूरदर्शी, तत्त्व-दर्शी और सत्यदर्शी' से कोई सलाह माँगेगा तो कहेंगे कि अबकी बार किसी साधु-साध्वी का 'चौमासा' अपने नगर, गाँव, कस्बे में न कराइये। जो आ पड़ें उन्हें युग की आवाज सुनाकर और सोते से जगाकर ठीक रास्ते पर ले आइये नहीं तो कह दीजिये कि—"बहुत हो चुका, अब आप चले जाइये।"

'तरुण जैन'
मई, १९४२

पूर्ण निवृत्ति की योजना

हमारे परम पूज्य मुनिराजों के सामने कई ऐसे पेचीदे सवाल खड़े हैं, जिन पर शीघ्र विचार करके निर्णय करना जरूरी है। देश की राजनैतिक परिस्थिति और विज्ञान की तीव्र गति से वैसे उन मुनिराजों को कोई वास्ता नहीं है, पर एक बात का उन्हें जरूर विचार करना है कि आज के प्रगतिशील युग में इस रूढ़िवादी धर्म की और विशेष कर साधु-संस्था की रक्षा कैसे करना? नये वैज्ञानिक युग में इस सारे धर्म और साधुत्व के महल का टिकना कैसे सम्भव होगा?

अहिंसा के माध्यम से ये लोग अपने इस महल को बचा लेंगे ऐसी कुछ लोग कल्पना करते हैं। पर अहिंसा में इतनी ताकत है या नहीं यह स्वयं इन मुनिराजों को भी पता नहीं है, क्योंकि अहिंसा के माने यह लोग इतना ही समझते हैं कि चुप-चाप बैठकर शांति और धैर्य के साथ अपने किये हुए कर्मों का फल भोगना चाहिए।

क्या होगा?

दूसरा एक विचारणीय विषय और है। यह विषय साधुओं की मूल मान्यताओं से सम्बन्ध रखनेवाला है। आज धर्म के नाम पर भाँति-भाँति की प्रवृत्तियों का जो ढेर लग रहा है उसके कारण हमारे साधुओं में यह आशंका पैदा होने लगी है कि इस तरह यदि प्रवृत्तियों का धर्म आगे बढ़ गया तो निवृत्ति का क्या होगा? यह प्रश्न मेरे एक मित्र ने कुछ एक

साधुओं को बताया है। उसी मित्र ने मुझे लिखा है कि उसने इस विषय में कई साधुओं से पत्र-व्यवहार तक भी किया है और उनको धर्म तथा साधु-संस्था पर आनेवाले भावी खतरे से सावधान किया है। इस पर उन साधुओं ने, निवृत्ति धर्म का अधिक से अधिक प्रचार करने की कोई योजना बनाकर काम में लेने का विचार किया है। इस योजना का क्या रूप होगा यह मुझे अभी तक मालूम नहीं पड़ा है। शायद अभी तो हाईकमांड के सामने इस पर विचार ही हो रहा है। पर अनुमानों से इतनी दूर तक पता लगा सका हूँ कि निवृत्ति को सक्रिय रूप से सारे समाज में व्याप्त करने के लिए कोई विशाल योजना तैयार की जायेगी। उसे मंजूर न करने की अवस्था में समाज को एक अल्टीमेटम भी दिया जायेगा। इस योजना में अनुयायी वर्ग से यह कहा जायेगा कि तुम लोग शीघ्र से शीघ्र खेती करना उद्योग-धन्धे और व्यापार करना आदि सभी प्रवृत्तियों का त्याग करो, क्योंकि इनमें महाआरम्भ रूप हिंसा होती है। और यह भी कहा जायेगा कि तुम पढ़ने-लिखने का भी त्याग करो। जो कुछ पढ़-लिख गये हो उसको भी भूल जाओ, क्योंकि इस पढ़ाई-लिखाई के कारण ही तुम्हारा माथा खराब हुआ है। तुम सर्वज्ञ भाषित शास्त्रों के वचनों में सन्देह करने लगे हो, जो धर्म के विनाश का चिन्ह है। इस-लिए शीघ्र से शीघ्र स्कूल, पाठशालाएँ आदि बन्द हो जानी चाहिए। तुम कहीं-कहीं सरकार विरोधी कार्यों में भी सहयोग देने लगे हो इसे शीघ्र बन्द करो, क्योंकि राज-द्वेष पाप है। गांधी जैसे नास्तिक पुरुष के चक्कर में न आओ। अगर अमुक अवधि के भीतर-भीतर तुमने यह सब शर्तें पूरी नहीं कीं तो हम तुम्हारे साथ पूरा असहयोग कर देंगे। जिसके परि-णामस्वरूप तुम्हें बहुत तकलीफें उठानी होंगी। भगवान महावीर ने जो निवृत्ति धर्म दिया, वह तुम्हारी प्रवृत्तियों के कारण लुप्त होने की अवस्था में आ गया है। अब या तो ये प्रवृत्तियाँ नष्ट हों या धर्म ही नष्ट हुआ जाता है।

मेरे मित्र ने इस योजना पर अपने विचार प्रगट करते हुए मेरी राय

भी कई बातों पर माँगी है। मेरी सम्मति में उक्त प्रस्ताव महाराज की धर्म कल्पना के बिलकुल अनुकूल है। मैं समझता हूँ कि साधुओं को पूर्ण रूप से शुद्धि और सिद्धि इसी मार्ग से प्राप्त होगी। फिर उनके शरीर पर कोई पाप किसी भी तरफ से आकर नहीं चिपकेगा। तब तो वे अहिंसा की एकदम दर्शनीय और पूजनीय मूर्तियाँ बन जायेंगी। मैं समझता हूँ कि हमारे सभी पाठक निवृत्ति धर्म की पूर्ण सिद्धि के लिहाज से इस प्रस्ताव का पूरा समर्थन करेंगे।

हमारे साधु हमेशा से आत्मक्षेम की बात पहले और पर-कल्याण की बात बाद में करने के आदी रहे हैं। इसलिए मानना चाहिए कि समाज के कर्तव्य की योजना को पेश करने के पहले साधु-वर्ग हमारे मित्र की बतायी हुई आत्म-शुद्धि के द्वारा पूर्ण निवृत्ति की सिद्धि की योजना को स्वीकार करेंगे। वैसा करने से ही शायद साधु-समाज को मनोवांछित निवृत्ति प्राप्त हो जाय और समाज तक की योजना बनाने की जरूरत ही नहीं रहे। खाना छोड़कर जब साधु कहेगा कि खेती में पाप है, इसलिए उसे मत करो, तो उसकी बात का मूल्य ही दूसरा होगा। पानी पीना छोड़कर जब वह कहेगा कि पानी में जीव हैं, इसलिए उसका व्यवहार मत करो, तो एक नया ही बल मिलेगा उस बात को साधु जब उक्त प्रकार से पूर्ण निवृत्त हो जायँगे तब उनकी पूर्ण निवृत्ति की योजना पूरी तरह सफल होगी।

'तरुण जैन'
जुलाई, १९४२

प्रश्न सात पूछे गये हैं लेकिन साथ में यह भी लिख दिया गया है कि एक से अनेक समझने की बात है। एक के अनेक तो सात के 'सातानेक'! इन साधु-मुनिराजों, त्यागीजन एवं नेताजन पर अजीब बोझा डाल दिया है। और ऐसे भी कोई प्रश्न होते हैं जिनका उत्तर दें तो साधु-मुनिराज अपनी पोल आप खोलें और न दें तो सारा रोब-दाब हवा होने लगे।

मैं अगर मुनि, नहीं मुनिराज या महासंत की हैसियत से उत्तर देता अथवा पूज्यजी की भाँति इन प्रश्नों का उत्तर किसी श्रावक को 'धारण' कराता तो सब से पहले 'सरल-हृदय' जी को यह कहता या कहलाता कि "आप मिथ्यात्वी हैं। आप भगवान् के वचनों में श्रद्धा नहीं रखते। साधु-मुनिराज, संत-सती, पूज्यजी के कार्यों को शंका की दृष्टि से देखने से आप न केवल अपना श्रावक-जीवन बिगाड़ रहे हैं बल्कि पाप की वह गठरी सिर पर उठा रहे हैं जिसके दबाव का परिणाम जन्म-जन्मान्तर के लिए आपका नरक-निवास हो जायगा।" लेकिन आज गणतंत्र के जमाने में इतना-सा कहना काफी नहीं हो सकता। हिटलर-शाही को बुरी बतलाने के लिये चीख-चीखकर गणतंत्र का उदाहरण देना जरूरी है। अतः प्रश्नों का सिलसिलेवार उत्तर यहाँ दिया जा रहा है। बड़े साधु-मुनिराज, संत-सती आदि ऐसे मामूली प्रश्नों के उत्तर देने में समय नहीं खो सकते अतः मैं उनकी ओर से उत्तर दिये देता हूँ। ये सिलसिलेवार संक्षिप्त उत्तर हैं :

१

●

न तो अयोग्य दीक्षा या बाल-दीक्षा लेनेवाला शासन का द्रोही है और न दीक्षा देनेवाला ! संसार का नियम है कि हरएक व्यक्ति अपना-सा दूसरों को बनाना चाहता है और अपना समाज बढ़ाना चाहता है। रंग की नाँद में गिरकर निकले हुए नीले सियार और पूँछ कट जानेवाली लोमड़ी ने यही चाहा था कि सब सियार नीले रंग के हो जायँ और सब लोमड़ियाँ अपनी-अपनी पूँछ कटा लें। यह तो हुई दुनिया की दलील जिसके बगैर आज का जमाना एक पैंड़ भी नहीं चलना चाहता। आध्यात्मिक पहलू को सोचेंगे तब भी दीक्षा लेनेवाले का दोष साफ समझ में आ जायेगा। अयोग्य को योग्य बनाना गुणीजन का कर्तव्य है। दीक्षा के लिए जो अयोग्य हैं उन्हें दीक्षा देकर योग्य बनाना फिर साधु-मुनिराज का कर्तव्य माना ही जाना चाहिए। भारतीय और पाश्चात्य शिक्षा-विशेषज्ञों का मत है कि बालक को आरम्भ से जिस वातावरण में रखा जायगा और जो संस्कार उसके शुरू से डाले जायेंगे, उसका भावी जीवन वैसा ही बनेगा। इस दृष्टि से बाल्यावस्था में चेले-चेली मूंडना और गट्डे गट्डी बनाना बहुत उत्तम है। बालक तो कच्ची मिट्टी या गूदे हुए आटे के लोंदे होते हैं जिन्हें जैसा ढाल दो और आँच पर तपा दो, वैसी ही शकल के बनकर पक जाते हैं। दीक्षा लेनेवाला बालक तो कभी दोषी हो नहीं सकता। दोषी किसी अंश में हो सकते हैं तो उसके माता-पिता, जिन्होंने उसे पैदा किया।

इस प्रकार दीक्षा देनेवाला तो कभी भी दोषी नहीं हो सकता और सच पूछा जाय तो अयोग्य दीक्षा या बालदीक्षा लेनेवाला या दिलानेवाला भी दोषी नहीं हो सकता। जो धर्म के खँडहर को संभाले हुए हैं, साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका के चतुर्विध संघ की छेदवाली नौका को अपनी गरदन से छेद को रोककर डूबने से बचाये हुए हैं, ऐसे साधु-मुनि-राज और वीर-शासन के प्रतिनिधियों के निकट सम्पर्क में जानेवाले या

उनके पास भेजनेवाले कैसे दोपी हो सकते हैं। वे तो पुण्य कार्यों में सहयोग देने जा रहे हैं। वे स्वयं निज का कल्याण करने और अपने धर्म व समाज को कल्याण के मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करने जा रहे हैं। फिर वे दोपी कैसे ?

निष्कर्ष यह निकला कि दोपी अगर कोई गिने जा सकते हैं तो सिर्फ वे जो इन दीक्षा लेने और देनेवालों के बीच अंतराय डालते हैं। इस 'दे-ले' के बीच जो बोलता है या इनके बहिष्कार का विचार मात्र करता है, वह मिथ्यात्वी है, पापी है, बुद्धि से भ्रष्ट है। आज वीर भगवान मौजूद नहीं हैं, वरना जाने ऐसे लोगों के बारे में वे क्या-क्या कहते और क्या सजा दे जाते ?

अतः सम्पादकोंजी ! आप लोगों को, 'सरल हृदय' जी को और आप जैसे अन्य अनर्गल बोलनेवाले व्यक्तियों को समझना चाहिए कि आप शासन के द्रोही हैं। अपनी हरकतों से बाज नहीं आए तो आपका बहिष्कार किया जायगा। कुछ डर है तो सिर्फ यह है कि आज के जमाने में इस 'बहिष्कार' शब्द का आप जैसों पर कोई असर भी होगा या नहीं। श्री ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक के चौवीस तीर्थंकर, बाद के गणधर आप लोगों को सुबुद्धि दें कि आप 'बहिष्कार' के फतवे से डरने लगें।

२

●

जब अयोग्य दीक्षा नाम की कोई क्रिया या वस्तु नहीं हो सकती तो उसके देनेवाले शासन-द्रोही कैसे हो सकते हैं ? अयोग्य को योग्य बनाने के लिए दीक्षा देना महत्कार्य है, अतः अयोग्य को दीक्षा देना शासन-द्रोह नहीं। अयोग्य को दीक्षा देनेवाला शासन-द्रोही ही नहीं रहा तो समाज

को उसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह तो विचारने की जरूरत नहीं रह जाती। यह प्रश्न नये आधार और दृष्टिकोण से यों पूछा जा सकता है कि जो अयोग्य को दीक्षा देकर शासन का उत्थान कर रहे हैं, उनसे अब तक समाज जैसा व्यवहार करता आ रहा था, उसमें कोई विशेषता लाई जानी चाहिए या कि वैसा ही व्यवहार चलता रहना चाहिए।

इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि उनका आदर समाज में अब और अधिक बढ़ना चाहिए। उन्होंने जैन शासन को दीप्त किया है, उसकी ध्वजा को इतना ऊँचा चढ़ाया है कि साधारण चर्म-चक्षु वाले उसे देख नहीं सकते। वे दिगम्बर रहते हों, तो उन्हें सोने का कमण्डल और चाँदी की मोर-पिच्छी देनी चाहिए, वे दण्डधारी साधु हों तो उनके हाथों में स्वर्ण-दण्ड दिये जाने चाहिए। दण्डधारी या बगैर दण्डधारी साधुओं के वस्त्र, ओघे पातरे आदि बहुत कलापूर्ण हों तथा संसार में दुष्प्राप्य पदार्थों के बने होने चाहिए। मुँहपत्तियाँ चाँदी की और उनकी डोरी रेडियम की होनी चाहिए। इसी प्रकार उनकी अगवानी, उनके बैठने के उपाश्रय आदि स्थान को सजाने आदि में समाज को विशेष ध्यान रखना चाहिए ताकि शासन का मान बढ़ सके, जैन धर्म का नाम उजागर हो सके और समाज इस लोक से मोक्ष की ओर जल्दी बढ़ सके।

३

●

माघ-महोत्सव, दीक्षोत्सव, पट्टोत्सव, दर्शनोत्सव आदि में महारम्भ ! कैसी ओछी और जैन-शासन के विरुद्ध बात है ! इन कामों में महारम्भ बताना कोई भी स्वाभिमानी धार्मिक व्यक्ति नहीं बरदाश्त कर सकता। ये तो पुण्यपर्व हैं जिनमें लगाया हुआ द्रव्य दाता और उपभोग करनेवाले सबके लिए कल्याण का, समाज में धर्म-श्रद्धा और धार्मिकता की वृद्धि करनेवाला तथा वीर-शासन को दीप्त करनेवाला है। द्रव्य तो

हाथ का मैल है। उसका सदुपयोग ऐसे पुण्य-पर्वों में नहीं होगा तो क्या समाज में शिक्षा के साधन उपलब्ध कर मिथ्यात्वियों की संख्या बढ़ाने के लिए किया जायेगा ?

आज कलियुग है। इसीका परिणाम है कि जो साधु-साध्वी वर्ग शासन को विख्यात और उजागर करने के नाना प्रयत्न बताते हैं, उन्हें नई रोशनी वाले 'उत्सवों के उत्पादक वेषधारी' कहते हैं। मछलियाँ जाल में आयें, इसके लिए आटे की गोलियाँ डालना जरूरी है और दड़बे में ज्यादा कबूतर भरने हों तो जवार का लोभ दिया जाना जरूरी है। फिर अपने सम्प्रदाय की समृद्धि के लिए इन महोत्सवों का प्रयोग 'आडम्बर' क्यों कहा जाय ? यह तो नीतिमत्ता की निशानी है। इन्हें 'आडम्बरी उत्सवढोंगी' न कहकर समाज के उद्धारक और प्रसारक कहिये। और उपाय सोचना है तो उन व्यक्तियों से बाज आने का उपाय सोचिये जो इन तपस्वियों, धर्म-निष्ठों और शासन की मंगल-कामना करनेवालों के द्वारा प्रेरित उत्सवादि पुण्य-कार्यों की आलोचना करते हैं और धर्म की जड़ पर कुठाराघात करते हैं।

एक बात और भी है। हमारा साधु-साध्वी वर्ग तो इन सांसारिक कार्यों और उत्सव-महोत्सवों के कर्म-काण्डों से बहुत दूर रहता है। वे कब किसी श्रावक-श्राविका से कहते हैं कि यह महोत्सव करो और यह 'संघ' निकालो। प्राचीन शास्त्रों और स्वयं श्री महावीर के वचनों को वे तो दुहराते हैं जिनमें शासन के विस्तार के लिये तत्कालीन श्रावकों ने जो प्रयत्नादि किये, उनका भी उल्लेख आ जाता है। इन शास्त्र-वचनों के श्रवण से किसी सरल-स्वभावी सुश्रावक के दिल में महोत्सवादि करने की उमंग उठ आती है, तो उसमें साधु-साध्वी वर्ग का क्या दोष ? अतः 'उत्सवों के उत्पादक वेष-धारी' बिल्कुल निर्दोष और समीचीन क्रिया करनेवाले और उपदेश देनेवाले हैं। निर्दोष और पर-हितरत साधु-साध्वी वर्ग के निर्देशानुसार चलनेवाला समाज भी चतुर और

निर्दोष ही गिना जाना चाहिए। इसीलिए किसीसे बाज आने की चिन्ता न करके जो पुण्य-कार्य हो रहे हैं उनमें शुद्ध मन, वचन, काय से भाग लेना चाहिए। और ऐसे प्रश्न उठाकर समाज और धर्म के बने-बनाये खँडहर को गिराने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

४

●

'मुनि महात्माओं के नाम से पुस्तकें छपती हैं।' तो बड़ी अच्छी बात है। इसमें पाप-पुण्य, आरंभ-समारंभ का प्रश्न क्यों खड़ा किया जाता है। मुनि-महाराज समाज के कल्याण और धर्म के विस्तार के लिये कुछ लिखते, कहते या 'धारण' कराते हैं तथा कोई पुण्यात्मा अपना द्रव्य सदुपयोग में लगा उस प्रवचन-उपदेशादि को जन-साधारण को सुलभकर साम्प्रदायिक-श्रद्धा को विकसित करता है और ज्ञान का उदय करता है, तो इसमें पाप-पुण्य का सवाल कहाँ से आ घुसा? यह भी मान लें कि हरएक क्रिया में पाप-पुण्य होता है, तो भी यह तो सोचना होगा न कि अमुक क्रिया में पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक होता है या नहीं। स्पष्ट है कि ज्ञान के विस्तार, धर्म के प्रसार और अपने विशुद्ध साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के प्रचार में यदि पुस्तकादि के प्रकाशन से अधिक सहायता पहुँचती है, तो वह प्रकाशन का कार्य पुण्योदय अधिक करेगा और उससे पाप कम होगा। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है साधु-साध्वी समाज को किसी भी क्रिया के लिए कहते नहीं कि 'यह काम करो', 'अमुक पुस्तक छपवा दो', इत्यादि। निर्लिप्त भाव से विशिष्ट ज्ञानी की हैसियत से साधु-साध्वीगण कर्तव्य-मार्ग का खुलासा करते हैं। जिसके अंग में लग जाती है, अन्तरात्मा जाग उठती है, वह उस रास्ते को अपना लेता है और ज्ञान-वृद्धि, समाज-वृद्धि, धर्म-वृद्धि आदि में द्रव्य का सदुपयोग करता है। क्रिया में जो थोड़ा-सा पाप होता भी होगा, तो वह उसके फल से जो ढेर-का-ढेर पुण्य होता है उससे नष्ट हो जाता है और शेष में तो पुण्य ही पुण्य का संबल मिला जिसकी कि प्राणी को आवश्यकता है।

५

●

इसमें भी वही बात है। तार, टपाल, डाक लिखने-लिखवाने का कार्य मुनि-महात्मा अपने स्वार्थ के लिए, निज के हित के लिए तो करते नहीं जो उसके पाप का भार उन पर पड़े। यदि पाप होता ही है तो वह धन-सहायक उपासकों को होता होगा। वे श्रावक हैं। उन्हें तो संसार में रहते हुए ये आरंभ-समारंभ के काम थोड़े बहुत करने ही पड़ते हैं। फिर ये काम तो पर-हित और श्रद्धा-भावना से होते हैं। इनमें पाप कम और पुण्य ज्यादा होता है। इस दृष्टि से भी बचत में पुण्य ही रहा जिससे चतुर्विध संघ को मोक्ष-प्राप्ति में सुविधा रहती है।

६

●

द्रव्य के उपयोग को जान लिया तो फिर उपार्जन की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। द्रव्य केउपार्जन और उसको गुणित करने में जो पाप कर्म थोड़ा बहुत अनायास और श्रावक-श्राविका के 'अजान' में हो जाता है, वह सारा पाप-बंधन उस पुण्य से कट जाता है जो उस धनराशि के सदुपयोग से उत्पन्न होता है। सौ मजदूरों का खून चूसकर दो हजार रुपया बचा दिया और एक चैत्य बनवा दिया, या स्थानक में सारे संघ से दया पलवा दी या गट्टे-गट्टियों के मुण्डन के पुण्यावसर पर तीन लोक के कोने-कोने से इकट्ठे होनेवाले सुश्रावक-श्राविकादि के लिये भोजनादि की व्यवस्था कर दी तो इतना अधिक पुण्य होगा जो खून चूसकर दो हजार रुपया इकट्ठा करने में हुए थोड़े से पाप को न मालूम कहाँ बहा देगा। इन पाप-पुण्यों में मुनि-महाराज, पूज्य-महाराज, स्वामी-सतियों को घसीटना तो जैसा कि शुरू से कहा जा रहा है, महान् मिथ्यात्व और संकुचितता है।

७

•

धर्म और समाज का क्या सम्बन्ध ? धर्म मन्दिरों की सजावट में। धर्म चेले-चेली मूंड़ने में। धर्म 'गटटूडे-गटटूडी' बढ़ाने में। धर्म दया पालने, या संघ निकालने या माघ-महोत्सव करने में। इन सब धार्मिक क्रियाओं में और धर्म-प्रसारक, शासनोद्दीपक उत्सवों में समाज-हिताहित की बात, सामाजिक उत्सवों की बात मिला देना ही घोर मिथ्यात्व है। निर्लिप्त भावसे, शुभ 'मनसा वाचा कर्मणा' ये क्रियाएँ होती हैं और इसके बावजूद समाज रसातल को जाता हो; मानवता का गला घुटता हो, और दुनिया हँसती हो तो उसमें समाज, मानवता तथा दुनिया की मूर्खता, अल्पज्ञता और 'सद्धर्म' को न पहिचान सकनेवाली बुद्धि-हीनता ही प्रकट होती है।

तथ्य यह कि सातों प्रश्न अनर्गल प्रलाप हैं। मुनि महात्माओं को चाहिए कि इनका मुँहतोड़ उत्तर दें और ऐसी जिज्ञासाओं को बढ़ने का मौका न मिलने दें।

ये 'लोक-हित,' 'लोक-कल्याण,' 'जन-कल्याण,' 'मानवता की रक्षा,' आदि क्या शब्द हैं !! पापपुण्य के आगे इनकी क्या सार्थकता, क्या व्यापकता और क्या शक्ति ? आपकी इस 'समय की गति' ने जिन-शासन को ज्यादा से ज्यादा धक्का पहुँचाया है। समाज में 'पाप-पुण्य,' 'आरम्भ-समारम्भ' के खिलाफ विद्रोह-भावना फैलाकर आपने इन मुनि-महात्माओं और धर्म के ठेकेदारो को अपमानित किया है। इसीका परिणाम है कि जिन-शासन का अनादर हो रहा है और सद्धर्म का लोप होता जा रहा है। आप इस सदी की भाषा के प्रयोग की बात कह रहे हैं और अठारहवीं सदी की भाषा के प्रयोग को बुरा-भला कह रहे हैं। धर्म का उद्धार, भगवान् महावीर के द्वारा चलाये गये जिन-शास्त्र का

प्रसार और जैन-धर्म की ध्वजा का उच्च रूप तो अठारहवीं ही नहीं, सदियों पहिले की भाषा से होनेवाला है। मुनि-महात्माओं का यह इतना रेवड़ यदि नहीं रहता और 'समय की गति' के अनुसार यह समाज चलने लग जाता तो न जाने कब का ही रसातल को पहुँच गया होता।

'तरुण जैन'
अगस्त, १९४२